ओ३म

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार
महात्मा नारायण स्वामी



मुण्डक उपनिषद्



॥ ओ३म् ॥

अथ मुण्डकोपनिषद्

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

**ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यांप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥**

अर्थ–(देवानाम्) देवों का (प्रथमः) पहला (विश्वस्य कर्त्ता) विश्व का कर्त्ता (भुवनस्य गोप्ता) जगत् का रक्षक (ब्रह्मा) ब्रह्मा (सम्बभूव) प्रकट हुआ। (सः) उसने (ज्येष्ठपुत्राय अथर्वाय) ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के लिए (सर्वविद्या प्रतिष्ठाम्) सब विद्याओं की बुनियाद (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्मविद्या का (प्राह) उपदेश किया ॥ १ ॥

**अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवार्चाङ्गरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥**

अर्थ–(अथर्वणे) अथर्वा के लिए (यां) जिस (ब्रह्मविद्या) का (ब्रह्मा) ब्रह्मा ने (प्रवदेत) उपदेश किया था (अथर्वा) अथर्वा ने (अङ्गिरे) अङ्गी (नाम वाले विद्वान्) के लिए (ताम्) उस (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्म विद्या को (पुरा) पहले (उवाच) कहा (सः) उस (अङ्ग) ने (भारद्वाजाय सत्यवाहाय) भारद्वाज के पुत्र सत्यवाह के लिए (प्राह) कहा (भारद्वाजः) भारद्वाज के पुत्र ने (अङ्गिरा से) अंगिरा के लिए (परावराम्) पर श्रेष्ठ और अवर अश्रेष्ठ (विषयों की जानने वाली) विद्या को (प्राह) बतलाया ॥ २ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के पहले वाक्य में ब्रह्मा के तीन विशेषण दिये गये हैं। (१) वह देवों में प्रथम देव था (२)

वह जगत्कर्त्ता था (३) वह जगत् का रक्षक था। प्रश्न यह है कि वह ब्रह्म कौन था। इसके तीन उत्तर दिये जा सकते हैं।

पहला उत्तर–वह ब्रह्मा कोई अन्य व्यक्ति न था किन्तु स्वयम् ईश्वर ही था। ईश्वर जब जगत् पैदा करना चाहता है। तब उसका नाम ब्रह्मा होता है। ब्रह्मा शब्द का अर्थ वृद्धि की इच्छा करने वाला है। उपनिषदों में इस प्रकार के वाक्य अनेक जगह प्रयुक्त हुए हैं कि ब्रह्मा ने जब प्रजा वाला होने की इच्छा की तो जगत् को उत्पन्न किया।❖ इसीलिए ब्रह्मा ईश्वर का नाम है। अथर्वा इत्यादि अमैथुनी सृष्टि के व्यक्ति सभी उसके ज्येष्ठ पुत्र हैं इसलिए उनमें से अथर्वा को उसने वेद ज्ञान दिया।

दूसरा उत्तर–बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है (देखो १/४) कि प्रारम्भ में जीव पुरुष के रूप में था। जब वह अकेला होने से भयभीत हुआ तो उसके एक दाने की दो दालों के सदृश, दो भाग कर दिये गये जिनमें से एक पुरुष और दूसरा स्त्री कहलाया क्योंकि वह प्रारम्भ में इतना था जितना, एक साबित दाने की तरह, पुरुष और स्त्री मिलकर होते हैं।⊗ उस पुरुष को ज्ञान प्राप्त होने से ब्रह्मा संज्ञा हुई, वह मैथुनी सृष्टि का कर्त्ता और भर्त्ता था इसलिए उपनिषद् वाक्य में आये ब्रह्मा शब्द से

❖ (क) छान्दोग्योपनिषद् प्र० ६ खं० २ में है–"तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति ।। अर्थात् उस (ब्रह्म) ने इच्छा की कि "मैं बहुत हूँ" (इसलिए प्रजा उत्पन्न करूं) "वहतीति बहुः"। वह जगत् का धारण, पोषण करता है इसलिए ईश्वर का नाम "बहु" है।

(ख) सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति ।। (तैत्ति० उप० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु० ६) अर्थात् उस (ब्रह्म) ने चिन्तन किया कि मैं "बहुः" हूं इसलिए प्रजा वाला हो जाऊँ। इत्यादि।

⊗ आत्मैवा इदमग्र आसीत् पुरुषविधिः ××× (१) सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति ××× (२) स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्द्धवृगलमिव ××× (३) बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१/२/३

वही पुरुष अभिप्रेत है। उसका मैथुनी सृष्टि का उत्पन्न करना और ज्ञान देना स्पष्ट है।

तीसरा उत्तर–अमैथुनी सृष्टि के आरम्भ में चारों वेदों में से एक-एक का ज्ञान, अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा को ईश्वर द्वारा प्राप्त हुआ। इनमें से प्रत्येक ने बाकी तीन-तीन वेदों का ज्ञान अन्यों से प्राप्त करके, सभी चारों आदिम ऋषि ब्रह्मा पदवाच्य हुए। और इन्हीं ब्रह्मा वाचक ऋषि समुदाय से मैथुनी सृष्टि का क्रम चला इसलिए वे उसके उत्पादक और रक्षक दोनों हुए और उन्होंने उस मैथुनी सृष्टि में उत्पन्न अथर्वा आदि को शिक्षा भी दी। इसलिए स्पष्ट है कि उपनिषद् के प्रारम्भ में प्रयुक्त ब्रह्मा शब्द इन्हीं ऋषियों के वास्ते है।

इन तीनों उत्तरों में से वे ही अन्त के उत्तर अधिक सुसंगत मालूम होते हैं। जिनमें ब्रह्मा जीव के लिए प्रयुक्त हुआ समझा गया है और उनमें से भी तीसरा उत्तर कि वेद प्रापक ऋषि ही ब्रह्मा थे अधिक सुसंगत है।

ब्रह्मा ने अथर्वा को, अथर्वा ने अंगी को, अंगी ने सत्यवाह को और सत्यवाह ने अंगिरा को उस ब्रह्म (वेद) विद्या का उपदेश दिया। उपनिषद् में ज्ञानप्राप्ति का यह जो क्रम कहा गया है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस उपनिषद् का शिक्षक अंगिरा वेद वाक्य-प्रापक ऋषियों से पाँचवीं ही पीढ़ी में हुआ था किन्तु इस वाक्य में ये नाम सहस्रों के क्रम में से कुछेक बहुत प्रसिद्ध विद्वानों ने लिख दिये गये हैं क्योंकि उपनिषद् का अभिप्राय क्रमपूर्वक इतिहास लिखने का नहीं था किन्तु उनका उद्देश्य केवल यह दिखलाना था कि इस उपनिषद् का शिक्षक अंगिरा उन्हीं विद्वानों में से था जिन तक वेद के ऋषियों से क्रमपूर्वक ब्रह्मविद्या पहुँची थी और इसका तात्पर्य केवल उपनिषद् की शिक्षा की प्रामाणिकता का प्रदर्शन था।

'पर' और 'अपर' का भाव उसके सिवा जो ऊपर अंकित है, यह भी हो सकता है कि यह ब्रह्म विद्या 'पर' अर्थात् बड़े

और श्रेष्ठ विद्वानों से उनकी अपेक्षा अपर अर्थात् छोटे विद्वा तक परम्परा से चली आ रही है ।। १, २ ।।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ।। ३

अर्थ–(ह, वै) प्रसिद्ध है कि (महाशाल:) बड़ी शाला = गृह य विद्यालय वाले (शौनक:) शुनक के पुत्र शौनक ने (विधिवत्) मर्याद के अनुकूल (अंगिरसम्) अंगिरा ऋषि को (उपसन्न:) [उसके] समीप जाकर (पप्रच्छ) पूछा (भगव:) हे भगवन् ! (नु) निश्चय (कस्मिन् विज्ञाते) किसके जानने पर (सर्वम्; इदम्) यह सब (विज्ञातम्) जाना हुआ (भवति, इति) हो जाता है ।। ३ ।।

व्याख्या–जिस अंगिरा का ऊपर उल्लेख हो चुका है उसी ऋषि की सेवा में मर्यादानुसार उपस्थित होकर, श्रेष्ठ और सम्पन्न गृहस्थ शौनक ने पूछा कि वह क्या वस्तु है जिसके जान लेने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है?।। ३ ।।

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्य इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ।। ४ ।।

अर्थ–(तस्मै) उस (शौनक) के लिए (स:) वह अंगिरा (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (द्वे विद्ये) दो विद्यायें (वेदितव्ये इति) जानने योग्य हैं (ह, स्म) निश्चय (यद्) जो (ब्रह्मविद:) ब्रह्म के जानने वाले (वदन्ति) कहते हैं, (परा, च, अपरा) परा और अपरा ।। ४ ।।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।। ५ ।।

अर्थ–(तत्र) उनमें (ऋग्वेद:) ऋग्वेद (यजुर्वेद:) यजुर्वेद (सामवेद:) सामवेद (अथर्ववेद:) और अथर्ववेद (शिक्षा) शिक्षा = स्वर और वर्णादि का उच्चारण विधि, (कल्प:) कल्प, जो वेद मन्त्रों के विनियोग पूर्वक, कर्मकाण्ड का विधान करता है, (व्याकरण) शब्दशास्त्र (निरुक्तम्) निरुक्त जिसमें वेद में आये शब्दों का निर्वचन किया गया है, (छन्द:) छन्दशास्त्र

(ज्योतिषम्) ज्योतिष विद्या (इति) ये (अपरा) अपरा हैं (अथ) और (परा) परा (वह विद्या है) (यया) जिससे (तदक्षरम्) वह अक्षर = अविनाशी (ब्रह्म) (अधिगम्यते) जाना जाता है ॥ ५ ॥

व्याख्या–ऋषि अंगिरा ने शौनक के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रकट किया कि परा और अपरा दो विद्यायें जानने योग्य हैं। ऋग्वेदादि अपरा विद्याएँ हैं और जिससे ब्रह्म को जान लिया जाता है उसे 'परा' विद्या कहते हैं। उपनिषद् के इस वाक्य में वेद को अपरा क्यों कहा? इसका कारण स्पष्ट है कि वेद केवल परा विद्या के ग्रन्थ नहीं अपितु अपरा के भी हैं अर्थात् वेद में जहाँ ब्रह्म विद्या की मूल शिक्षा अन्य स्थलों में तथा यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में मुख्यतया दी गई है जिसका नाम 'ईशोपनिषद्' है और उपनिषदों की आधारशिला है वहाँ अन्य स्थलों पर गृहस्थ धर्म का भी वर्णन है, युद्ध करने का भी विधान किया गया है, अथवा चक्रवर्ती राज्य रखने का उल्लेख है, धन पैदा करने की भी आज्ञा दी गई है, इत्यादि अपरा का अर्थ भी यही है कि जो केवल परा न हो अर्थात् जो परा और अपरा दोनों का मिश्रण हो। अपरा* कोई निन्दा सूचक शब्द नहीं है किन्तु विषयों के प्रकार की दृष्टि से विद्या के परा और अपरा ये दो भेद किये गये हैं ॥ ४-५ ॥

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रम्वर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

अर्थ–(यत्) जो (अदृश्यम्) न देखा जा सके और अग्राह्यम् न पकड़ा जा सके (अगोत्रम्) जिसका कोई गोत्र नहीं (अवर्णम्) जिसका कोई रंग नहीं (अचक्षुः श्रोत्रम्) जिसको आँख और कान (आदि इन्द्रियों) की जरूरत नहीं। (अपाणि-पादम्) जिसे हाथ

* मैडम बलावट्स्की ने तिब्बती भाषा में एक ग्रन्थ (Book of Golden Precepts) से जो एक संक्षिप्त संग्रह तैयार करके Voice of the silence नाम रखा था, उसमें 'अपरा' को Head learning और 'परा' को Soul wisdom लिखकर उनका भेद दिखलाया था।

और पांव की भी आवश्यकता नहीं और (सर्वगतम्) जो सर्वत्र व्यापक और (सुसूक्ष्मम्) अत्यन्त सूक्ष्म है। (तद्) उस (अव्ययम्) क्षय रहित (नित्यम्) नित्य (विभुम्) व्यापक और (यद्) उस (भूतयोनिम्) जगत् के निमित्त कारण (ब्रह्म) को (धीराः) धीर पुरुष (परिपश्यन्ति) सर्वत्र देखते हैं ।। ६ ।।

व्याख्या–ऊपर परा (ब्रह्म) विद्या की बात कही गई है। जिसके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ब्रह्म का कुछ ज्ञान शिष्य को हो जाय इसलिए आचार्य ने ब्रह्म के कुछेक गुणों का यहाँ वर्णन किया है।

(१) वह इन्द्रियों से नहीं प्राप्त किया जा सकता क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं है।

(२) उसे अपना काम चलाने के लिए इन्द्रियों की जरूरत भी नहीं है।

(३) वह सूक्ष्म सर्वव्यापक और एक रस है।

(४) वह जगत् का निमित्त कारण है।

ऐसे ब्रह्म के लिए अंगिरा ऋषि कहते हैं कि उसे केवल धीर पुरुष प्राप्त कर सकते हैं। धीर पुरुष उन विद्वानों को कहते हैं जिनके मन, वाणी और आचरण में समता होती है ।। ६ ।।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।। ७ ।।

अर्थ–(यथा) जैसे (ऊर्णनाभिः) मकड़ी (सृजते) जाला उत्पन्न करती (च) और (गृह्णाते) अपने भीतर समेट लेती है। (यथा) जैसे (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ओषधयः) औषधियां (सम्भवन्ति) उत्पन्न होती हैं (यथा) जैसे (सतः पुरुषात्) पुरुष = जीव के विद्यमान होने से (केशलोमानि) केश और लोम (उत्पन्न होते हैं) [तथा] वैसे ही (अक्षरात्) उस अविनश्वर पुरुष–ब्रह्म से (इह) यह (विश्वम्) ब्रह्माण्ड (सम्भवति) उत्पन्न होता है।

व्याख्या–ईश्वर से किस प्रकार जगत् उत्पन्न होता है इस के कतिपय उदाहरण दिये गये हैं।

पहला उदाहरण– मकड़ी अपने भीतर उपस्थित जाले के कारण से जाला उत्पन्न करती है और फिर उसे अपने भीतर कर लेती है।

दूसरा उदाहरण– पृथ्वी में बीज पड़ने से औषधियाँ उसी बीज का रूपान्तर होकर उत्पन्न होती हैं।

तीसरा उदाहरण– शरीर में जीव के मौजूद अपने कारण से उत्पन्न होते हैं।

इन उदाहरणों के अनुसार, अविनाशी ब्रह्म अपने अन्दर मौजूद जगत् के कारण प्रकृति से इस समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया करता है ॥ ७ ॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

अर्थ–(तपसा) ईक्षण से (ब्रह्म) वह अक्षर (चीयते) बढ़ता है (ततः) उससे (अन्नम्) अन्न (अभिजायते) उत्पन्न होता है (अन्नात्) अन्न से (प्राणः) प्राण, उस से (मनः) मन उससे (सत्यम्) सत्य = पंचभूत, उनसे (लोकाः) (सूर्यादि) लोक और मनुष्यादि [और उनमें कर्म] होते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या–प्रलय के बाद जगदुत्पत्ति का सूत्रपात ब्रह्म के ईक्षण से होता है। ईक्षण ब्रह्म की उस स्वाभाविक इच्छा का नाम है जो जगदुत्पत्ति से पहले उसमें उत्पन्न होकर गति को पैदा करती है, जिस गति से सत्, रज, तम की साम्यावस्था की समता टूटकर विषमता पैदा होती है और उसी विषमता से प्रकृति विकृति को प्राप्त होकर जगत् के पूर्वरूप महत्तत्वादि को पैदा किया करती है, इसी का नाम ब्रह्म का बढ़ना है। ब्रह्म प्रकृति को भी कहते है।* प्रकृति का कारण से कार्यरूप में

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् २/३/१/२
"द्वेवाव ब्रह्मणो रूपेः मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च।"
यहाँ ब्रह्म शब्द पञ्चभूतों के समुदाय (प्रकृति) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसीलिए आकाश और वायु को अमूर्त और अग्नि, जल और पृथिवी को मूर्त कहा गया है।

होना स्पष्ट रीति से उसका बढ़ना ही है। उपनिषद् के इस वाक्य में जगदुत्पत्ति क्रमपूर्वक वर्णित नहीं है किन्तु आवश्यकतानुसार उसकी कुछेक शृंखलाओं का वर्णन है। 'अन्न' का अभिप्राय गेहूं आदि अन्न से नहीं किन्तु महत्तत्व आदि सूक्ष्म भूतों से है जिससे ५ तन्मात्रा और मन आदि की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं इसलिए 'सत्यम्' (व्यक्त) शब्द का अभिप्राय स्थूल भूतों से है और 'लोका' शब्द में, सूर्यादि लोक तथा मनुष्यादि योनियां दोनों का समावेश है ।। ८ ।।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते ।। ९ ।।

अर्थ–(यः) जो (सर्वज्ञः) सर्वज्ञाता (सर्ववित्) सब कुछ जानने वाला (यस्य) जिसका (ज्ञानमयं) ज्ञानपूर्वक (तपः) तप = कर्म हैं (तस्मात्) उसी सर्वज्ञ से (एतत्) यह (ब्रह्म) जगत् (नाम) नाम और (रूपम्) रूप (च) और (अन्नम्) अन्न (जायते) उत्पन्न होता है ।। ९ ।।

व्याख्या–जगदुत्पत्ति कर्त्ता को सब कुछ जानने वाला तथा ऐसा होना चाहिए जिसका कर्म ज्ञानपूर्वक हो, इसी बात का उल्लेख उपनिषद् के इस वाक्य में किया गया है। नाम रूप का अभिप्राय बाह्य आकृति और रूप से होता है इसका तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर ने केवल जगत् (वस्तुतत्त्व) ही नहीं पैदा किया किन्तु जगत् में जो तरह-तरह के रूप और भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ दिखलाई देती हैं उनका उत्पन्न करने वाला भी वही ईश्वर है ।। ९ ।।

इति प्रथमेमुण्डके प्रथमः खण्डः

प्रथमो मुण्डकः

द्वितीयः खण्डः

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः स्वकृतस्य लोके ॥ १ ॥ १० ॥

अर्थ–(तत्) वह (एतत् सत्यम्) सत्य है (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (यानि) जिन (कर्माणि) कर्मों को (कवयः) सूक्ष्मदर्शी विद्वान् (अपश्यन्) देखते थे (तानि) वे (कर्म) (त्रेतायाम्) तीन प्रकार के मन्त्र वाले चार वेदों में (बहुधा) अनेक प्रकार से (सन्ततानि) फैले हुए हैं (तानि) उन (कर्मों) को (सत्यकामाः) सत्य संकल्प होकर (नियतम्) नियत (आचरथ) आचरण करो (एषः) यह (वः) तुम्हारा (लोके) जगत् में (स्वकृतस्य) अपने किये कर्मों का (पन्थाः) मार्ग है ॥ १ ॥ १० ॥

व्याख्या–उपनिषद् में इस वाक्य द्वारा, कर्म और फल की उत्पत्ति का विवरण देने के बाद, कर्म करने का विधान किया गया है। वेदों में जिन कर्मों के करने का विधान है और जिन्हें सूक्ष्मदर्शी विद्वानों ने उन (वेदों) का ज्ञान प्राप्त करके प्रकट किया है उन्हें सत्यता के साथ सदैव करना चाहिये क्योंकि जगत् में मनुष्य का मार्ग अपने किये हुए कर्मों ही से बना करता है ॥ १ ॥ १० ॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने। तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धयाहुतम् ॥ २ ॥ ११ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (यदा) जब (समिद्धे) समिधाओं से (हव्यवाहने) अग्नि से प्रदीप्त होने पर (अर्चिः) ज्वालाएँ (लेलायते) धधक उठती हैं (तदा) तब (आज्यभागौ) घृत की दो (अन्तरेण) क्रम से (आहुतीः) आहुतियाँ (प्रतिपादयेत्) देवें (श्रद्धया) श्रद्धा से (हुतम्) होम किया हुआ हो ॥ २ ॥ ११ ॥

व्याख्या–कर्म में मुख्य यज्ञ है इसलिए पहले उसी के करने की शिक्षा दी गई है। यज्ञ दो प्रकार से किये जाते हैं, एक

फल की इच्छा से, दूसरे कर्त्तव्य पालन करने के लिए केवल धर्म समझकर फल की इच्छा को छोड़कर करना। इनमें से पहला मनुष्य को आवागमन के चक्र में रखता है और दूसरा मोक्ष के कारणों में से एक कारण बना करता है। दोनों प्रकार की भावनाओं वाले यज्ञ का प्रारम्भ इसी प्रकार किया जाता है जैसा इस वाक्य में वर्णन है ॥ २ ॥ ११ ॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयण-मतिथिवर्ज्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमश्रद्धया हुतमासप्तमान् तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ ३ ॥ १२ ॥

अर्थ–(यस्य) जिस का (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र (अदर्शम्) दर्श–अमावस्या के यज्ञ से रहित है (अपौर्णमासम्) और पूर्णमासी के यज्ञ से भी शून्य है। (अचातुर्मास्यम्) चातुर्मास्य सम्बन्धी यज्ञ से भी खाली है। (अनाग्रयणम्) आग्रयण शरद् ऋतु में विहित यज्ञ शून्य है (अतिथिवर्ज्जितम्) अतिथि यज्ञ वर्जित है। (अहुतम्) समय पर होम से रहित (अवैश्वदेवम्) वैश्वदेव कर्म से खाली है। (अविधिनाहुतम्) विधिरहित होम किया हुआ (अश्रद्धया, हुतम्) अथवा अश्रद्धा से किया हुआ है (तस्य) उसके (आसप्तमान्-लोकान्) सात लोकों को (हिनस्ति) नाश करता है ॥ ३ ॥ १२ ॥

व्याख्या–प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि नैत्यिक यज्ञ के सिवा निम्न नैमित्तिक यज्ञों को यथासमय किया करे–

(१) दर्श– अमावस्या को जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम दर्श है।

(२) पौर्णमास्यम्– प्रत्येक मास की पूर्णिमा को करना चाहिये।

(३) चातुर्मास्यम्– वर्षा ऋतु में किये जाने वाले यज्ञ का नाम चातुर्मास्य है।

(४) आग्रयण– वह यज्ञ है जो शीत ऋतु में किया जाता है।

(५) अतिथियज्ञम्– यह भी नैत्यिक यज्ञों में से एक है और प्रतिदिन किया जाना चाहिए।

(६) वैश्वदेवम्– यह भी नैत्यिक यज्ञों में से एक है और दैनिक होना चाहिये।

उपनिषद् के इस वाक्य में चेतावनी दी गई है कि जो इन विहित यज्ञों को नहीं करते अथवा जो करते हैं परन्तु विधि और श्रद्धा पूर्वक नहीं करते वे अपने समस्त लोकों को खराब करते हैं।

सात लोक-ये हैं (१) पृथिवी (२) वायु (३) अन्तरिक्ष (४) आदित्य (५) चन्द्रमा (६) नक्षत्र (७) ब्रह्मलोक, ये ही लोक हैं जिनमें से किसी न किसी लोक में प्राणी रहा करता है। परन्तु यज्ञ न करने वाले अथवा देवऋण से उऋण न होने वाले जिस लोक में भी जायेंगे वह उनके लिए शान्ति का स्थान न होगा। सातवें ब्रह्मलोक में तो अशुभकर्मी जा ही नहीं सकते ॥ ३ ॥ १२ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥ १३ ॥

अर्थ–(काली) काली (कराली) तीक्ष्ण (मनोजवा) मन का सा वेग रखने वाली (सुलोहिता) लाल रंग वाली (या) जो (सुधूम्रवर्णा) धुएँ के रंग वाली (स्फुलिङ्गिनी) चिनगारी वाली (विश्वरूपी) अनेक रूप वाली (देवी) प्रकाशमयी (लेलायमाना) प्रदीप्त (सप्तजिह्वाः) सात ज्वालाएँ (अग्नि की) हैं ॥ ४ ॥ १३ ॥

व्याख्या–अग्नि की ज्वालाएँ, जो यज्ञ के लिए प्रज्ज्वलित की जाती हैं इन्हीं सात रूपों में से किसी न किसी रूप में हुआ करती है ॥ ४ ॥ १३ ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥ १४ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एतेषु) इन (भ्राजमानेषु) प्रकाशमान (अग्नि जिह्वा के) भेदों में (यथाकालम्) ठीक समय पर (यः) जो (चरते) हवन करता है (तम्) उस (यजमानं) यजमान को (एताः) ये (आहुतयः) आहुतियां (आददायन्)

ग्रहण करती हुईं (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मयः) किरणों के साथ (नयन्ति) पहुँचाती हैं (यत्र) जहाँ पर (देवानां, पतिः) देवों का स्वामी (एकः) अद्वितीय (अधिवासः) रहता है ॥ ५ ॥ १४ ॥

व्याख्या–जब विद्वान् इन प्रज्ज्वलित अग्नियों में यथाकाल और यथाविधि हवन करता है और उसके बदले में इच्छा कुछ नहीं करता तो इस निष्काम यज्ञ के बदले में उसे अद्वितीय ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥ १४ ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्च्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्च्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ ॥ १५ ॥

अर्थ–(सुवर्च्चसः) प्रकाशयुक्त (प्रियाम्) प्रिय (वाचम्) वाणी को (अभिवदन्त्यः) बोलती हुईं (अर्च्चयन्त्यः) सत्कार करती हुईं (वे) (आहुतयः) आहुतियां (एहि एहि इति) आओ, आओ, ऐसा [कहती हुईं] (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों के साथ (तम्) उस (यजमानम्) यजमान को (वहन्ति) ले जाती हैं [और कहती हैं कि] (एषः) यह (वः) तुम्हारा (पुण्यः) पवित्र (सुकृतः) अच्छे कर्म का [फलरूप] (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है ॥ ६ ॥ १५ ॥

व्याख्या–अलंकार की रीति से वर्णन किया गया है कि वे निष्काम यज्ञ की आहुतियां मानो यजमान को बुलाकर अपने साथ ले जाकर उसे सूर्य किरणों द्वारा ब्रह्मलोक को पहुंचा देती हैं ॥ ६ ॥ १५ ॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयोये ऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ ७ ॥ १६ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एते) ये (यज्ञरूपाः) अग्निहोत्रादि (कर्म) (येषु) जिनमें (अष्टादशोक्तम्) अठारह ऋत्विज कहे जाते हैं (अवरं) अश्रेष्ठ (कर्म) (अदृढाः) स्थिरता रहित और (प्लवाः) नाशवान् हैं। (ये मूढाः) जो मूढ़ पुरुष (एतत्) यह (श्रेयः) श्रेय = मोक्ष का साधन है [ऐसा समझकर] (अभिनन्दन्ति) सन्तुष्ट होते हैं (ते) वे (जरा) बुढ़ापे और

(मृत्युम्) मृत्यु को (पुनः, एव) फिर भी (अपियन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ १६ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥ १७ ॥

अर्थ–(अविद्यायाम्) अविद्या के (अन्तरे) बीच में (वर्त्तमानाः) वर्त्तमान (स्वयं) अपने को (धीराः) धीर (पण्डितम्) पण्डित (मन्यमानाः) समझने वाले (जंघन्यमानाः) दुःखों के मारे हुए (मूढाः) मूढ़ पुरुष (अन्धेन एव) अन्धे ही से (नीयमानाः) ले जाये गये (यथान्धाः) जैसे अन्धे (परियन्ति) इधर-उधर भटकते हैं ॥ ८ ॥ १७ ॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥ १८ ॥

अर्थ–(बालाः) अज्ञानी पुरुष (अविद्यायाम्) अविद्या में (बहुधा) अनेक प्रकार से (वर्त्तमानाः) फंसे हुए (वयम्) हम (कृतार्थाः) कृतार्थ हैं (इति) ऐसा (अभिमन्यन्ति) मानते हैं (यत्) जिस कारण (कर्मिणः) [सकाम] कर्म के कर्त्ता (रागात्) राग = फल में फंसे होने से [उसके परिणाम को] (न प्रवेदयन्ति) नहीं जानते (तेन) इससे (आतुराः) दुःख से आतुर (क्षीणलोकाः) कर्मफल के क्षीण होने पर (च्यवन्ते) गिरते हैं ॥ ९ ॥ १८ ॥

व्याख्या–सकाम यज्ञ करते हुए जो पुरुष उस को श्रेय मोक्ष मार्ग समझते हैं उनकी इन वाक्यों में उपनिषद् ने निन्दा की है। उपनिषद् के पहले वाक्य में कहा गया है कि यह १८ ऋत्विजों से किया हुआ सकाम यज्ञ [निष्काम की अपेक्षा] अस्थिर और अदृढ़ है जो लोग इसी को श्रेय = मोक्ष का साधन मानते हैं वे अज्ञानी पुरुष बुढ़ापे और मृत्यु के बन्धन से नहीं छूटते। फिर दूसरे वाक्य में उन्हीं, सकाम यज्ञ को श्रेय मानने वालों के लिए कहा गया है कि वे अविद्या-ग्रस्त हैं और दुःखों से सताये हुए होने पर भी, अपने को धीर और पण्डित मानते हैं। ऐसे पुरुष अन्धों के पीछे चलने वालों के सदृश अन्धे ही होते हैं।

फिर तीसरे वाक्य में उन्हीं के लिए कहा गया है कि अविद्या ग्रस्त होने पर भी अपने को यह अज्ञानी पुरुष कृतार्थ मानते हैं। ये सकाम यज्ञों के कर्त्ता फल में फंसे हुए होने के कारण उस सकाम यज्ञ की फल सीमा को नहीं समझते और शीघ्र ही उस कर्म फल के क्षीण होने पर गिर जाते हैं। स्पष्ट है कि इन वाक्यों में यज्ञों की निन्दा नहीं की गई है। सकाम यज्ञ अच्छा कर्म है परन्तु अच्छा होने पर भी अपनी सीमा रखता है और वह सीमा पुत्र-प्राप्ति आदि अभ्युदय = लोकोन्नति तक सीमित है। इससे ईश्वर अथवा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए जो लोग यज्ञों ही को सब कुछ समझते हैं और उन्हीं को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं, वे वास्तव में अज्ञानी और निन्दा के पात्र हैं और उन्हीं की उपनिषद् ने भी निन्दा की है ।। ७, ८, ९ ।। १६, १७, १८ ।।

इष्टापूर्तं मन्यमानाः वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरञ्चाविशन्ति ॥ १० ॥ १९ ॥

अर्थ-(प्रमूढाः) कर्म फल में फंसे हुए (इष्ट) श्रौत = श्रुति के अनुकूल यज्ञ और (आपूर्त) स्मार्त कर्म = धर्मशाला, कुआं आदि बनाने को (वरिष्ठम्) श्रेष्ठ (मन्यमानाः) मानते हुए (अन्यत्) इससे भिन्न (श्रेयः, न) श्रेय = मोक्ष मार्ग कुछ नहीं (वेदयन्ते) जानते हैं। (ते) वे (सुकृते) सकाम कर्म के फल को (नाकस्य) स्वर्ग के (पृष्ठे) ऊपर (अनुभूत्वा) भोग कर (इमम्) इस (लोकम्) लोक को (हीनतरम्, च) और इससे भी हीन लोक को (आविशन्ति) प्रवेश करते हैं ।। १० ।। १९ ।।

व्याख्या-उपनिषद् के इस वाक्य में उपनिषद् के मन्तव्य को और भी अधिक साफ कर दिया है अर्थात् जो लोग इष्ट और आपूर्त ही को सबसे अधिक श्रेष्ठ मानते हुए श्रेय = मोक्ष मार्ग इसके सिवा और कोई नहीं है, ऐसा जानते हैं, ऐसे पुरुष वास्तव में मूढ़ हैं और सकाम यज्ञ के फल स्वर्ग को भोगकर इस लोक = साधारण मनुष्य योनि और इससे भी हीन योनियों को प्राप्त होते हैं ।। १० ।। १९ ।।

नोट–स्वर्ग स्थान विशेष का नाम नहीं है किन्तु मनुष्य योनि में जो पुरुष सांसारिक दुःखों से सर्वथा रहित हैं वे ही स्वर्ग-प्राप्त व्यक्ति हैं। यह विचार कि स्वर्ग कोई ऐसा लोक है जहाँ प्राणी स्थूल शरीर रहित होकर जाते हैं सर्वथा भ्रमपूर्ण है। शतपथ ब्राह्मण में साफ तौर से लिखा है कि–

"सह सर्वतनुरेव यजमानोऽमुष्मिल्लोके सम्भवति।"

(शतपथ ब्रा. ४/६/१/१)

अर्थात् यजमान स्वर्ग में समस्त शरीर के साथ उत्पन्न होता है।

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ ॥ २० ॥

अर्थ–(ये) जो (शान्ताः) शान्त (विद्वांसः) विद्वान् (भैक्षचर्यां) भिक्षावृत्ति का (चरन्तः) आचरण करते हुए (अरण्ये) वन = एकान्त में (तपः) तप और (श्रद्धे) श्रद्धा में (उपवसन्ति) रहते हैं। (ते) वे (विरजाः) रज = मल रहित होकर (सूर्य्यद्वारेण) सूर्य की किरणों के द्वारा (प्रयान्ति) जाते हैं (यत्र) जहाँ (हि) निश्चय (सः) वह (अमृतः) अमर और (अव्ययात्मा) अविनाशी (पुरुषः) पुरुष है ॥ ११ ॥ २० ॥

व्याख्या–भैक्षचर्या = समस्त धन पैदा करने की वृत्तियों को छोड़कर, भिक्षा द्वारा केवल ८ ग्रास के योग्य अन्न प्राप्त करना और उसी का सेवन करना भैक्षचर्या कही जाती है। इस वाक्य में उपनिषद् ने उन पुरुषों की बात कही है जो संसार में किसी सांसारिक फल की इच्छा नहीं रखते और अपना उद्देश्य केवल ब्रह्म को प्राप्त करना रखते हैं। ऐसे पुरुष शान्ति के वातावरण में जब एकान्तवास करते हुए श्रद्धा के साथ तप का जीवन व्यतीत करते हैं अल्पाहारी हो जाते हैं तब उनकी आत्मशुद्धि होती है और वे विधिपूर्वक परमात्मा का साक्षात्कार किया करते हैं ॥ ११ ॥ २० ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥ २१ ॥

अर्थ–(ब्राह्मणः) ब्रह्मविद्या का अधिकारी (कर्मचितान्) कर्म से प्राप्त होने वाले (लोकान्) लोक को (परीक्ष्य) परीक्षा करके (निर्वेदम्) वैराग्य को (आयात्) प्राप्त होवे (कृतेन) (सकाम) कर्म से (अकृतः) परमेश्वर (न, अस्ति) प्राप्त नहीं होता (तत्, विज्ञानार्थम्) उस परमेश्वर के जानने के लिए (सः) वह (जिज्ञासु) (समित्पाणिः) समिधा हाथ में लेकर (श्रोत्रियम्) वेद के जानने वाले (ब्रह्मनिष्ठम्) ब्रह्म में श्रद्धा रखने वाले (गुरुम्) गुरु को (एव) ही (अभिगच्छेत्) प्राप्त होवे ॥ १२ ॥ २१ ॥

व्याख्या–ईश्वर के प्राप्त होने के लिए जिस प्रकार के वातावरण की जरूरत है उसके बनाने के साधन उपनिषद् के इस वाक्य में दिये गये हैं।

(१) वह ब्रह्म विद्या में श्रद्धा रखता हो।
(२) सकाम कर्म से प्राप्त होने वाले फलों की जांच करके उनकी अस्थिरता को जान लेवे।
(३) वैराग्य वाला होता हुआ भली भाँति समझ ले कि ईश्वर-प्राप्ति का साधन सकाम कर्म नहीं।
(४) वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की सेवा में आदर पूर्वक ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए उपस्थित होवे।

इन साधनों से सम्पन्न होकर ही कोई ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति की इच्छा कर सकता है ॥ १२ ॥ २१ ॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ ॥ २२ ॥

अर्थ–(प्रशान्तचित्ताय) शान्त चित्त (शमान्विताय) शम = इन्द्रिय और मन आदि पर अधिकार रखने वाले (उपसन्नाय) समीप आये (तस्मै) उस (जिज्ञासु) के लिए

(सः) वह (विद्वान्) विद्वान् (सम्यक्) ठीक-ठीक (येन) जिस (विद्या) से (अक्षरम्) अविनाशी (सत्यम्) तीनों काल में एक जैसा रहने वाले (पुरुषम्) ईश्वर को (वेद) जाना जाता है (ताम्) उस (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्मविद्या को (तत्त्वतः) यथार्थ रीति से (प्रोवाच) उपदेश करे ॥ १३ ॥ २२ ॥

व्याख्या–उस वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु का कर्त्तव्य यह है कि वह उस शान्त-चित्त और इन्द्रियजित, समीप आये हुए जिज्ञासु के लिए ठीक-ठीक उस ब्रह्म का उपदेश करे, जिस से अविनाशी और एकरस रहने वाले व्यापक ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है ॥ १३ ॥ २२ ॥

इति प्रथमे मुण्डके द्वितीयः खण्डः

द्वितीयः मुण्डकः

प्रथमः खण्डः

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्तिः ॥ १ ॥ २३ ॥

अर्थ–(तत्) वह (एतत्) यह (सत्यम्) सत्य है (यथा) जैसे (सुदीप्तात्) अच्छी प्रज्ज्वलित (पावकात्) अग्नि से (सरूपाः) समान रूप वाली (सहस्रशः) सहस्त्रों (विस्फुलिङ्गाः) चिनगारियाँ (प्रभवन्ते) उत्पन्न होती हैं (तथा) वैसे ही (सौम्य) हे प्रिय ! (अक्षरात्) अविनाशी (ब्रह्म) से (विविधाः) अनेक प्रकार के (भावाः) भाव (प्रजायन्ते) प्रकट होते हैं (च) और (तत्र, एव) उस ही में (अपियन्ति) लीन भी हो जाते हैं ॥ १ ॥ २३ ॥

व्याख्या–'एतत्' यहाँ ब्रह्म के संकेत के लिए है "तदेतत्सत्यम्" का अर्थ इसलिए यह हुआ कि वह ब्रह्म सत्य है, तब दिखलाई क्यों नहीं देता ? इस प्रश्न का उत्तर इस वाक्य में दिया गया है। वह उत्तर एक उदाहरण से प्रारम्भ किया गया है। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से अनेक चिनगारियां निकलकर यदि अग्नि दिखलाई न भी देती हो तब भी उसे तो (चिनगारियाँ) प्रकट कर देती हैं। इसी प्रकार अंगिरा ऋषि शौनक से कहते हैं, कि उस अविनाशी ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव* पदार्थ सृष्टि के उत्पत्ति काल में उत्पन्न होते हैं और अन्त को प्रलयकाल आने पर उसी में लय हो जाते हैं। ये उत्पन्न हुए पदार्थ चिनगारी की तरह अग्निरूप ब्रह्म के न दिखलाई देने पर भी उसकी सत्ता को प्रकट करते रहते हैं। एक उर्दू के कवि ने बहुत अच्छा लिखा है–

* श्रीमत् शंकराचार्य तथा पं० भीमसेन आदि अनेक विद्वानों ने "भावा" का अर्थ "पदार्थाः" किया है।

तेरी तकवीर❖ की देती है गवाही दुनिया।
तेरी हस्ती✦ की शहादत❖ में है रचना तेरी॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः पुरः॥ २॥ २४॥

अर्थ–(हि) निश्चय (दिव्यः) प्रकाशमान (अमूर्तः) मूर्ति रहित (पुरुषः) सर्वव्यापक (स) वह (ब्रह्म) (बाह्य, आभ्यन्तरः) बाहर और भीतर = सर्वत्र वर्तमान (अजः) जन्म रहित (हि) निश्चय (अप्राणः) प्राण रहित (अमनाः) मन से शून्य (शुभ्रः) पवित्रः (परतः अक्षरात्) सूक्ष्म अविनाशी। (प्रकृति और जीव) से (परः) सूक्ष्म है॥ २॥ २४॥

व्याख्या–उसी ब्रह्म के कुछेक गुणों का वर्णन इस वाक्य में किया गया है जिससे उसकी सत्ता का कुछ अनुमान किया जा सके–

(१) दिव्य अलौकिक प्रकाश वाला है। कठोपनिषद् में उसके प्रकाश को धूम = विकार रहित प्रकाश कहा गया है।*
(२) अमृतः = शरीर रहित = अप्राकृतिक।
(३) पुरुषः = सर्वत्र व्यापक।
(४) संसार में आकाशवत् सब वस्तुओं के भीतर भी है और बाहर भी।
(५) अज = जन्म रहित अर्थात् नित्य।
(६) अप्राणः = प्राण रहित परन्तु प्राण से अधिक शक्ति वाला।
(७) अमनाः = मन रहित परन्तु मननशील।
(८) शुभ्रः = पवित्र।
(९) परतः परः = सूक्ष्म से भी सूक्ष्म॥ २॥ २४॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ३॥ २५॥

❖ बड़प्पन
✦ सत्ता
❖ गवाही
* देखो 'ज्योतिरिवाधूमकः।' कठोपनिषद् ४/१३

अर्थ–(एतस्मात्) इसी (अविनाशी पुरुष) से (प्राणः) प्राण (मनः) मन, (सर्वेन्द्रियाणि) समस्त इन्द्रियां (च) और (खम्) आकाश (वायुः) वायु (ज्योतिः) अग्नि (आपः) जल (विश्वस्य) विश्व = सबको (धारिणी) धारण करने वाली (पृथिवी) पृथिवी (जायते) उत्पन्न होती है ।। ३ ।। २५ ।।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा वायुः प्राण हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।। ४ ।। २६ ।।

अर्थ–(अस्य) इस पुरुष का (अग्निः) द्युलोक (मूर्धा) मस्तक (चन्द्रसूर्यौ) चन्द्रमा और सूर्य (चक्षुषी) आँखें (दिशः) दिशाएँ (श्रोत्र) कान (वेदाः) वेद (विवृताः) फैली हुई (वाक्) वाणी (वायुः) वायु (प्राणः) प्राण (विश्वम्) समस्त जगत् (हृदयम्) हृदय (पद्भ्याम्) पैरों से (पृथिवी) भूमि (उपलक्षित होती है) (हि) निश्चय (एषः) यह (सर्वभूतान्तरात्मा) समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है ।। ४ ।। २६ ।।

व्याख्या–इसी ब्रह्म से प्राण, मन, समस्त इन्द्रिय तथा पञ्चभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न हुए अर्थात् वह समस्त ब्रह्माण्ड के पदार्थों का निमित्त कारण है, उपादान कारण प्रकृति है (२) उसी ब्रह्म का विराट् रूप पुरुष सूक्त की तरह यहाँ वर्णित है–

अग्निः = मूर्धा।

सूर्य्य = चन्द्र–आँखें।

दिशा = श्रोत्र।

वेद = वाणी।

वायु = प्राण।

विश्व = हृदय।

पृथिवी = पांव।

इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्ड में परिपूर्ण और समस्त भूतों का अन्तरात्मा है अर्थात् समस्त भूत उसी की दी हुई शक्ति से अपने-अपने काम करने में समर्थ हैं ।। ३, ४ ।। २५, २६ ।।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्य्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥ २७ ॥

अर्थ–(तस्मात्) उस पुरुष से (अग्निः) अग्नि (अग्निकुण्ड रूप में) प्रकट होती है। (सूर्यः) सूर्य (यस्य) जिस (यज्ञ) की (समिधः) लकड़ी है (सोमात्) सोम से (पर्जन्यः) [जलरूप] बादल और (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ओषधयः) औषधियां [उत्पन्न होती हैं] (पुमान्) पुरुष (रेतः) [औषधि से उत्पन्न] वीर्य (योषितायाम्) स्त्री में (सिञ्चति) सींचता है (बह्वीः) बहुत (प्रजाः) प्रजाएँ इस प्रकार (पुरुषात्) पुरुष से (सम्प्रसूताः) उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥ २७ ॥

व्याख्या–उस (विराट्) पुरुष से, जिसका विवरण पहले दिया गया है [ब्रह्माण्ड रूपी] अग्नि प्रकट हुई जिस [यज्ञ] की समिधा सूर्य है और यज्ञ का फलस्वरूप सोम [यज्ञीय वाष्प] से बादल और उससे पृथिवी पर औषधियां उत्पन्न होती हैं उन औषधियों से वीर्य उत्पन्न होता है उसी वीर्य को जब पुरुष स्त्री के शरीर में सिंचन करता है तब बहुत सी प्रजाएँ पुरुष के निमित्त से उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥ २७ ॥

नोट–उपनिषद् में जो सृष्टि की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है वह पूरा और क्रमपूर्वक नहीं है। बीच की अनेक कड़ियां छोड़ दी गई हैं। उपनिषद् को यह इष्ट भी नहीं था कि जगदुत्पत्ति का विवरण देना अपना ध्येय बनाये उनका इष्ट तो ब्रह्मविद्या का विवरण देना था। उसी के खोलने और स्पष्ट करने के लिए जितना हाल सृष्टि का देना आवश्यक था उतना दे दिया।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥ २८ ॥

अर्थ–(तस्मात्) उस (पुरुष) से (ऋचः) ऋचा (साम) साम (यजूंषि) यजुः [तीनों प्रकार के मन्त्र जो चारों वेदों में हैं] (दीक्षा) संस्कार (च) और (सर्वे) समस्त (यज्ञाः) यज्ञ (क्रतवः) बृहद् यज्ञ (दक्षिणाः) दान (च) और (संवत्सरम्)

काल के अंग (च) और (यजमानः) यज्ञकर्ता (च) और (लोकाः) लोक (यत्र) जहाँ (सोमः) चन्द्रमा (पवते) पवित्र करता है (यत्र) जहाँ (सूर्यः) सूर्य [पवित्र करता है] ॥ ६ ॥ २८ ॥

व्याख्या–उसी विराट् पुरुष [ईश्वर] से, जगदुत्पत्ति होती है और स्त्री पुरुष का जन्म होता है, वहाँ पुरुषों की ज्ञान प्राप्ति के लिए तीन प्रकार के मन्त्र जो चारों वेदों में फैले हुए हैं। उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से दीक्षा, छोटे और बड़े यज्ञ और संवत्सर [समय] की उत्पत्ति होती है और यजमान और लोक भी उत्पन्न होते हैं। जिन्हें सूर्य और चन्द्र पवित्र करते रहते हैं ॥ ६ ॥ १८ ॥

नोट–काल और समय में अन्तर है। काल नित्य है परन्तु समय अनित्य है। समय और उसके विभाग दिन, रात, वर्ष आदि की उत्पत्ति सूर्य की उत्पत्ति के बाद से होती है। परन्तु काल उस समय भी रहता है जब कि सूर्य नहीं रहता यथा प्रलयकाल इत्यादि।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्याः मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥ २९ ॥

अर्थ–(तस्मात्) उस [पुरुष] से (बहुधा) अनेक प्रकार के (देवाः) देव (साध्याः) साधक (मनुष्याः) मनुष्य (पशवः) पशु (वयांसि) पक्षी (प्राणापानौ) प्राण और अपान (ब्रीहियवौ) धान और जौ (च) और (तपः) तप (श्रद्धा) सचाई को धारण करने वाली बुद्धि (सत्यम्) सत्य = धर्म (ब्रह्मचर्यं) ब्रह्मचर्य (च) और (विधिः) कर्त्तव्यविधि (सम्प्रसूताः) उत्पन्न हुई ॥ ७ ॥ २९ ॥

व्याख्या–इसी [विराट् पुरुष] से अनेक प्रकार के देव [उत्तम कोटि के मनुष्य] साधक [साधना करने वाले मनुष्य] और मनुष्य [साधारण कोटि के मनुष्य] पशु, पक्षी, प्राण और अपान आदि प्राणियों के जीवन साधन, धान और जौ आदि प्राणियों के खाद्य वस्तु तथा तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अन्य कर्तव्य विधियों को इसलिए उत्पन्न किया कि जिससे मनुष्य लोक और परलोक दोनों की सिद्धि कर सकें।

सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः सप्त समिधः सप्तहोमाः। सप्त इमे लोकाः येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशयाः निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥ ३० ॥

अर्थ–(सप्त प्राणाः) सात प्राण (सप्तार्चिषः) सात ज्वालायें (सप्त समिधः) सात समिधायें (सप्त होमाः) सात होम (इमे) ये (सप्त, लोकाः) सात लोक (येषु) जिनमें (गुहाशयाः) हृदयाकाश में (निहिताः) स्थित (सप्त, सप्त) सात सात (प्राणाः) प्राण (चरन्ति) विचरते हैं (तस्मात्) उसी से (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥ ३० ॥

व्याख्या–उसी [विराट् पुरुष] से निम्न वस्तुयें भी उत्पन्न होती हैं–

नाम	लौकिक यज्ञ में उनका स्थान	आध्यात्मिक यज्ञ में उनका स्थान
७ प्राण	७ ऋत्विक् इस प्रकार –	२ आँखें
	२ यजमान पति तथा पत्नी	२ कान
	१ ब्रह्मा	१ मुख
	४ ऋत्विक्	२ नासिका
		७
		इन्हीं को सप्तऋषि भी कहते हैं और इनमें प्राण विचरता है।
७ ज्वालायें	७ प्रकार की ज्वालायें काली और कराली इत्यादि	७ इन्द्रियों की शक्ति जिससे वे विषय का ग्रहण करती हैं।
७ होम	७ प्रकार का लौकिक यज्ञ–	ये उपर्युक्त ७
	२ दैनिक प्रातः तथा सायंकाल	इन्द्रियाँ जब सीमा
	१ दर्श	में रहते हुए अपने
	१ पौर्णमास	विषयों को ग्रहण
	१ चातुर्मास्य	करती हैं तो वे
	१ आग्रयण	इन्द्रिय व्यापार यज्ञ
	१ सांवत्सरिक	रूप ही होता है।
७ लोक	७ स्थान–जहाँ-जहाँ ये यज्ञ किये जाते हैं	७ इन्द्रियगोलक ही सप्त लोक हैं

गुहा नाम छिद्र गड्ढे या खाली जगह का है। जिस समय लौकिक यज्ञ में इसका प्रयोग होगा इसके अर्थ ऋत्विजों के निवास स्थान होंगे परन्तु जब यह शरीर के अन्तर्गत प्रयुक्त होगा तब इसके अर्थ हृदयाकाश या इन्द्रियों के छिद्र होंगे इसी गुहा में रहने वाले सात-सात ऋत्विक् या प्राण उपर्युक्त सात लोकों में विचरण करते हैं।। ८ ।। ३० ।।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥ ३१ ॥

अर्थ–(अतः) इस (पुरुष) से (समुद्राः) समुद्र (च) और (सर्व) समस्त (गिरयः) पहाड़ उत्पन्न होते हैं। (अस्मात्) इसी से (सर्वरूपाः) सब प्रकार की (सिन्धवः) नदियां (स्यन्दन्ते) बहती हैं (च) और (अतः, सर्वा, औषधयः, च) उसी से समस्त औषधियां और (रसः) रस उत्पन्न होते हैं (येन) जिससे (एषः) यह (अन्तरात्मा) जीवात्मा (भूतः) भौतिक शरीर के साथ (तिष्ठते) ठहरता है ।। ९ ।। ३१ ।।

व्याख्या–उसी पुरुष की सत्ता सामर्थ्य से समुद्र, पहाड़ और नदियाँ उत्पन्न होकर अपना-अपना काम करती हैं और उसी के सामर्थ्य से अनेक प्रकार के रस भी उत्पन्न होते हैं जिनके द्वारा शरीर स्थित रहकर जीवात्मा का निवास स्थान बनता है ।। ९ ।। ३१ ।।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतत् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य ॥ १० ॥ ३२ ॥

अर्थ–(इदम्) यह (विश्वम्) विश्व (पुरुष एव) पुरुष ही है (कर्म) कर्म (तपः) तप (परामृतम्) परम अमृत रूप (ब्रह्म) ब्रह्म है (सौम्य) हे प्रिय ! (यः) जो पुरुष (गुहायाम्) हृदयाकाश में (निहितम्) स्थित (एतत्) इस (पुरुष) को (वेद) जानता है (सः) वह (इह) इस जगत् में (अविद्याग्रन्थिम्) अविद्या ग्रन्थि को (विकिरति) खोल देता है ।। १० ।। ३२ ।।

व्याख्या–एक लोहे के गोले को जब खूब तपाते हैं और तपकर वह अग्निमय होकर दहकती हुई अग्नि की तरह लाल

हो जाता है तब उस गोले को यदि अग्नि कहो तब भी ठीक है। क्योंकि वह सभी को भस्म कर सकता है। यदि उसे लोहा कहो तब भी ठीक है क्योंकि वास्तव में वह लोहे का पिण्ड है। ठीक इसी प्रकार इस ब्रह्माण्डरूपी लोहे के गोले में ब्रह्मरूपी अग्नि, अपने सर्वव्यापकत्व गुण से, ओत-प्रोत है और इस गोले को ब्रह्माग्निमय बना रहा है, ऐसी हालत में इस ब्रह्माण्ड को यदि प्राकृतिक जगत् कहें तब भी ठीक है क्योंकि यह बना ही प्रकृति से है और यदि यह कह देवें कि यह सब ब्रह्म है तब भी ठीक है क्योंकि ब्रह्म उसमें अग्नि की तरह ओत-प्रोत है। उपनिषद् के इस वाक्य में इसलिए इस विश्व को पुरुष [ब्रह्म] कहा गया है।

कर्म और तप ब्रह्म की प्राप्ति के असिन्दग्ध कारण हैं और असन्दिग्ध कारण के स्थान पर कार्य का प्रयोग देखा जाता है जैसा एक ब्राह्मण ने एक जगह लिखा है कि "आयुर्वैघृतम्।" घृत, आयु वृद्धि का असन्दिग्ध कारण है। इसलिए आयु ही को इस वाक्य में घृत कहा गया है। इसी प्रकार कर्म और तप को भी इस उपनिषद् वाक्य में ब्रह्म कहा गया है। कर्म और तप को ईश्वर के व्यापकत्व से भी लोहे के गोले के सदृश, ब्रह्म कहा जा सकता है–

उपनिषद् के इस वाक्य में शिक्षा यह दी गई है कि जो पुरुष ऐसे महान् ईश्वर को अपने हृदय में स्थित देखता है और उसका ज्ञान प्राप्त किया करता है वह समस्त अविद्याओं, मिथ्या ज्ञानों से छूट जाया करता है ॥ १० ॥ ३२ ॥

इति द्वितीये मुण्डके प्रथमः खण्डः

द्वितीयः मुण्डकः

द्वितीयो खण्डः

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतं जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥ ३३ ॥

अर्थ–(आविः) प्रकाशमान (सन्निहितम्) सबमें स्थित (गुहाचरं, नाम) हृदयाकाश में विचरने वाला इस नाम वाला (महत्) महान् (पदम्) पदवाला (अत्र) इस में = ऐसे ब्रह्म में (एजत्) चलने वाले (प्राणत्) श्वास लेने वाले (च) और (निमिषत्) निमेष + पलक मारने वाले (एतत्) ये सब (समर्पितम्) प्रविष्ट हैं (यत्) जो (सद्) सूक्ष्म (असद्) महान् (वरेण्यम्) ग्रहण करने योग्य (वरिष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ (प्रजानाम्) प्राणियों के (विज्ञानात्) विशेष ज्ञान से (परम्) आगे है (तद्) उस (एतत्) इस (ब्रह्म) को (जानथ) जानो ॥ १ ॥ ३३ ॥

व्याख्या–वह ब्रह्म जो सर्वव्यापक, सर्वाधार, अत्यन्त सूक्ष्म और महत्तम है उसे हृदयाकाश में विचरने वाला केवल इसलिए कहा जाता है कि मनुष्य उसे अपने अन्दर की ओर चलकर हृदय मन्दिर में प्राप्त कर सकता है। यही वह स्थान है जहाँ अन्तर्मुखी आत्मा और ब्रह्म का संगम होता है और आत्मा उसका ज्ञान प्राप्त किया करता है ॥ १ ॥ ३३ ॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणुर्यस्मिन् लोकाः निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सौम्य विद्धि ॥ २ ॥ ३४ ॥

अर्थ–(यत्) जो (अर्चिमद्) प्रकाशमान है (यत्) जो (अणुभ्यः) सूक्ष्म से (अणुः) सूक्ष्म है (यस्मिन्) जिसमें (लोकाः) समस्त लोक (च) और (लोकिनः) उनके निवासी (निहिताः) स्थित हैं (तद्, एतद्) वह यह (अक्षरम्) अविनाशी

(ब्रह्म) और महान् है (सः) वह (प्राणः) [सबका जीवनाधार होने से] प्राण है (तद्, उ) वही (वाङ्) वाणी और (मनः) मन [का प्रवर्तक होने से वाणी और मन भी] है (तद्, एतद्) वह यह (सत्यम्) सत्य (तद्) वह (अमृतम्) अमर और (तद्) वह (वेद्धव्यम्) बेधने [लक्ष्य बनाने] के योग्य है (सौम्य) हे सौम्य ! [इसलिए उसको] (विद्धि) वेध—अपना लक्ष्य = निशाना बना ।। २ ।। ३४ ।।

व्याख्या—वह प्रकाशस्वरूप ब्रह्म जो महान् से महान् होने से, सम्पूर्ण लोकों का आश्रय स्थान है और जो शरीर और प्राण में प्राणत्व प्रदान किया करता है। इसीलिए उसे मन, वाणी और प्राण भी कहते हैं। सत्य और अमर होने से, लक्ष्य = अन्तिम ध्येय बनाने योग्य है और इसीलिए उपनिषद् कहती है कि उसे प्रत्येक मनुष्य को अपना अन्तिम ध्येय बनाना चाहिये क्योंकि उसे अपना अन्तिम ध्येय बनाने से, मनुष्यों के समस्त कार्य उस लक्ष्य से प्रभावित होंगे और वे कोई भी कार्य ऐसा न कर सकेंगे जो उन्हें सत्यता और अमरता के पथ से विचलित कर सके ।। २ ।। ३४ ।।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धीयत
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यम् तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥ ३ ॥ ३५ ॥

अर्थ—(औपनिषदम्) उपनिषद् = ब्रह्म विद्या रूपी (महास्त्रम्) महा अस्त्र (धनुः) धनुष (गृहीत्वा) पकड़कर (हि) निश्चय के साथ उसमें (उपासा) उपासना के (निशितम्) तीक्ष्ण (शरम्) वाण को (सन्धीयत) जोड़े (तद्) उस ब्रह्म में (भावगतेन) लीन हुए (चेतसा) चित्त से (आयम्य) खींच कर (तद्, एव) उस ही (लक्ष्यम्) लक्ष्य = ब्रह्म को (सौम्य) हे सौम्य ! (विद्धि) बींध ।। ३ ।। ३५ ।।

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य में यह शिक्षा दी गई है कि किस प्रकार ब्रह्म रूपी लक्ष्य को बींधना चाहिये—

(१) ब्रह्मविद्या तो उस लक्ष्य को बींधने के लिए धनुष है।

(२) उपासना अर्थात् ब्रह्मविद्या (उपनिषद्) में बतलाये हुए, ब्रह्मप्राप्ति के विधानों को, काम में लाने रूप बाण को, उस धनुष में लगाना।

(३) ब्रह्म में चित्त को लीन करना मानो उस बाण का खींचना है।

(४) बाण का चलाना मानों ब्रह्म रूपी लक्ष्य को बींध लेना है।

इस अलंकार का भाव यह है कि ब्रह्मप्राप्ति के लिए जिज्ञासु को उपनिषदों के अध्ययन द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के साधनों का ज्ञान प्राप्त करके उसे कार्य में परिणत करना चाहिए। इसी क्रिया को उपासना कहते हैं। उपासना करते हुए जिज्ञासु को अपने चित्त को ब्रह्म में लीन कर देना चाहिए। चित्त के ब्रह्म में लीन कर देने का भाव यह है कि उसकी बाहर जाने वाली वृत्तियां विरुद्ध हो गईं और आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत होकर अपना काम करने लगीं। इसी से परमात्मा का साक्षात्कार हुआ करता है ।। ३ ।। ३५ ।।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।। ४ ।। ३६ ।।

अर्थ–(प्रणवः) ओंकार (धनुः) धनुष है (हि) निश्चय (आत्मा) जीवात्मा (शरः) बाण है (तद्, ब्रह्म) वह ब्रह्म (लक्ष्यम्) लक्ष्य (उच्यते) कहा जाता है (अप्रमत्तेन (प्रमाद = आलस्य रहित (चित्त) से (वेद्धव्यम्) बींधना चाहिए (शरवत्) बाण के तुल्य (तन्मयः) तन्मय उसमें एकाग्र (भवेत्) होवे ।। ४ ।। ३६ ।।

व्याख्या–उपनिषद् के इससे पूर्व कहे हुए वाक्य में जो शिक्षा अलंकार द्वारा दी गई थी वही शिक्षा इस वाक्य में एक दूसरे अलंकार के द्वारा वर्णित है–

(१) प्रणव अर्थात् ओंकार धनुष है।

(२) जीवात्मा बाण है।

(३) लक्ष्य जहाँ निशाना लगाना है वह ब्रह्म है।

(४) उपर्युक्त धनुष द्वारा लक्ष्य को बींधने के लिए दो बातों की जरूरत है–

(क) जिज्ञासु प्रमाद (आलस्य) रहित हो।

(ख) चित्त को एकाग्र किये बिना कोई साधारण से साधारण निशाना भी नहीं लगा सकता इसलिए अभूतपूर्व लक्ष्य बींधने के लिए तो लक्ष्य में चित्त का तन्मय (एकाग्र) होना अनिवार्य है।

(५) जब जिज्ञासु इन दो बातों को काम में लाकर अपनी आत्मा को ओंकार के जप आदि विधानों में लगाता है तभी वह इस योग्य होता है कि ब्रह्म को प्राप्त कर सके ।। ४ ।। ३६ ।।

अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।

तमेवेकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥ ३७ ॥

अर्थ–(अस्मिन्) इस [पुरुष] में (द्यौः) प्रकाश वाले समस्त लोक (पृथिवी) प्रकाश रहित समस्त लोक (च) और (अन्तरिक्षम्) आकाश (च) और (सर्वैः प्राणैः) समस्त प्राणों के (सह) साथ (मनः) मन (ओतम्) समर्पित है (तम्, एव) उस ही (एकम्) एक (आत्मानम्) आत्मा को (जानथ) जानो (अन्याः) उससे भिन्न अन्य (वाचः) बातों को (विमुञ्चथ) छोड़ो (एषः) यही [आत्मा] (अमृतस्य) अमृत = मोक्ष का (सेतुः) पुल है ।। ५ ।। ३७ ।।

व्याख्या–वह पुरुष [ब्रह्म] जिसको लक्ष्य बनाकर बींधने की बात इससे पहले दो वाक्यों में कही जा चुकी है, क्यों प्राप्त करने योग्य है ? इसका उत्तर उपनिषद् के इस वाक्य में दिया गया है। वह उत्तर इस प्रकार है–

उस पुरुष [ब्रह्म] में एक समस्त प्रकाश और अप्रकाश वाले लोक और अन्तरिक्ष स्थित हैं तो दूसरी ओर प्राणों के साथ मन भी उसी को समर्पित है। ऐसा महान् परब्रह्म परमेश्वर अद्वितीय होते हुए अमरता का पुल भी है। अमर जीवन प्राप्त करने के लिए इसी पुल से गुजरना होगा। अतः आवश्यक है कि मनुष्य उस ओर चले। इसीलिए उसे लक्ष्य बनाने और

लक्ष्य बनाकर उसके बींधने का विधान उपनिषद् में किया गया है ॥ ५ ॥ ३७ ॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥ ३८ ॥

अर्थ–(यत्र) जहाँ (रथनाभौ) रथनाभि = धुरे में (अरा, इव) अरों के समान (नाड्यः) नाड़ियां (संहताः) जुड़ी हुई हैं (सः, एव) वह यह (आत्मा) (बहुधा) अनेक प्रकार से (जायमानः) प्रकट हुआ (अन्तः) भीतर (चरते) विचरता है (आत्मानम्) उस आत्मा को (ओम्) ओम् (इति) ऐसा और (एवम्) इस प्रकार [समझ कर] (ध्यायथ) ध्यान करो, वह (तमसः) अन्धकार से (परस्तात्) परे और (पाराय) पार होने के लिए है। (वः) तुम्हारा (स्वस्ति) कल्याण हो ॥ ६ ॥ ३८ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में उस ब्रह्म के प्राप्ति स्थान का निर्देश किया गया है। ब्रह्म यद्यपि अपने विभुत्व गुण से सभी स्थानों पर मौजूद है परन्तु उसे प्राप्त करने वाला आत्मा वही प्राप्त कर सकता है जहाँ वह भी मौजूद हो।

शरीर के अन्दर हृदय वह स्थान है जहाँ समस्त नाड़ियाँ उसी तरह से एकत्रित हैं जिस तरह पहिये के धुरे में उसके सब अरे एकत्रित होते हैं। इसी स्थान में जीव निवास करता है और ब्रह्म भी अपने व्यापकत्व से यहाँ मौजूद होता है। इसलिए यही वह जगह है जहाँ आत्मा, परमात्म–साक्षात्कार कर सकता है। इसीलिए उपनिषद् में इस स्थान का जिक्र करते हुए वहाँ उस परमात्मा [ओम्] के विचरने की बात कही गई है और यह भी शिक्षा दी गई है कि वहीं उस (ब्रह्म) का ध्यान करना चाहिये। इसी ध्यान से ध्याता का कल्याण होता है इसी से वह अन्धकार से परे और संसार रूपी सागर के पार हुआ करता है ॥ ६ ॥ ३८ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठिताऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥ ३९ ॥

अर्थ–(यः) जो (सर्वज्ञः) सबका ज्ञाता (सर्ववित्) सब का जानने वाला (यस्य) जिसकी (एषः) यह (महिमा) महिमा (भुवि) जगत् में है। (हि) निश्चय (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (दिव्य) दिव्य (व्योम्नि, ब्रह्मपुरे) हृदयाकाशरूपी ब्रह्मपुर में (प्रतिष्ठितः) स्थित है (मनोमयः) मननशील (प्राण, शरीर, नेता) प्राण और शरीर का चलाने वाला (हृदयम्) हृदय को (अन्ने) अन्नमय कोश में (सन्निधाय) रखकर (प्रतिष्ठितः) स्थित है। (तत्) उसके (विज्ञानेन) विशेष ज्ञान से (धीराः) धीर पुरुष (आनन्दरूपम्) आनन्द रूप (अमृतम्) अमृत को (यत्) जो (विभाति) प्रकाशमान है (परिपश्यन्ति) सब ओर (प्राप्त होते) हैं ॥ ७ ॥ ३९ ॥

व्याख्या–हृदय को अन्नमय रखने के दो अभिप्राय हो सकते हैं और दोनों उपयोगी हैं–(१) एक यह है कि **'यथा अन्नं तथा मनः।'** की उक्ति के अनुसार, मन का शुद्धाशुद्ध होना, अन्न के शुद्ध और अशुद्ध होने पर निर्भर होता है इसलिए मन को शुद्ध रखने के लिए आवश्यक है कि जिज्ञासु शुद्ध अन्न का सेवन करे, यह बात उसी अवस्था में सम्भव होती और हो सकती है जब हृदय का अर्थ मन समझा जावे।

(२) यदि हृदय का अर्थ मन न समझा जावे अपितु वह स्थूल पिण्ड माना जाये जो रक्त को शुद्ध करके समस्त शरीर में भेजा करता है तब हृदय के अन्नमय रखने का अभिप्राय यह होगा कि हृदय स्थूल पिंड होने से स्थूल शरीर का भाग है। इसलिए उसका अन्न अर्थात् अन्नमयकोश = स्थूल शरीर में होना या रखना स्पष्ट ही है।

अस्तु, उपनिषद् का यह वाक्य इससे पहले वाक्य की पुष्टि करता हुआ प्रकट करता है कि वह परमेश्वर सर्वज्ञ है और समस्त ब्रह्माण्ड जुबाने हाल = नामरूपात्मक जिह्वा से, उसकी महिमा प्रकट कर रहा है और वह प्राणियों के

हृदय-मन्दिर में स्थित है और मननशील होते हुए शरीर और उसके अन्दर प्राण दोनों को अपने-अपने कार्य के करने की योग्यता देने के द्वारा उनका संचालक है और हृदय को अन्नमय कोश में रख कर उसी में प्रतिष्ठित है। जिज्ञासु इस प्रकार उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करके उस आनन्द और अमरता के पुञ्ज को प्राप्त किया करता है ॥ ७ ॥ ३९ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥ ४० ॥

अर्थ–(तस्मिन्) उस (परावरे) सूक्ष्म और महान् (ईश्वर) के (दृष्टे) देख या जान लेने पर (हृदयग्रन्थिः) हृदय की गांठ [अर्थात् बन्धन का हेतु वासना] (भिद्यते) खुल जाती है (सर्वसंशयाः) समस्त संशय (छिद्यन्ते) नष्ट हो जाते हैं (च) और (अस्य) इस [मुमुक्षु] के (कर्माणि) समस्त [वासना पैदा करने वाले सकाम] कर्म (क्षीयन्ते) क्षीण हो जाते हैं ॥ ८ ॥ ४० ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में जिज्ञासु की उस अवस्था का वर्णन है जो साक्षात्कार करने से उसकी हो जाया करती है अर्थात् (१) जन्म का हेतु वासना नष्ट हो जाती है (२) जिज्ञासु का हृदय, संशय शून्य, श्रद्धा का मन्दिर बन जाता है (३) बन्धन के हेतु वासनोत्पादक सकाम कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥ ४० ॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ९ ॥ ४१ ॥

अर्थ–(हिरण्मये) प्रकाशमय (परे) सूक्ष्म (कोशे) कोश में (विरजम्) मलरहित (निष्कलम्) कलारहित (ब्रह्म) ब्रह्म है (तत्) वह (शुभ्रम्) पवित्र (ज्योतिषाम्) प्रकाशों का भी (ज्योतिः) प्रकाश है (यत्) उसको (आत्मविदः) ब्रह्म विद्या के जानने वाले (विदुः) जानते हैं ॥ ९ ॥ ४१ ॥

व्याख्या–प्रकाशमय सूक्ष्म आनन्दमय कोश में वह ब्रह्म, जो मल और कलारहित, पवित्र और समस्त प्रकाशों का

प्रकाश है, स्थित है। उसे ब्रह्म विद्या तथा उसके अनुकूल अभ्यासों के करने व जानने वाले, जान लिया करते हैं ॥ ९ ॥ ४१ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १० ॥ ४२ ॥

अर्थ–(तत्र) वहाँ (सूर्यः) सूर्य (न भाति) नहीं प्रकाशित होता और (न) न (चन्द्रः) चन्द्रमा और (तारकम्) तारागण और (न) न (इमाः) ये (विद्युतः) बिजलियां (भान्ति) चमकती हैं फिर (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (कुतः) कहां से [वहाँ प्रकाशित हो सकता है]। (तम्) उस (एव) ही के (भान्तम्) प्रकाशित होने पर (सर्वम्) यह सब (अनुभूति) पीछे से प्रकाशित होता है। (तस्य) उसी के (भासा) प्रकाश से (इदम् सर्वम्) यह सब (विभाति) प्रकाशित होता है ॥ १० ॥ ४२ ॥

व्याख्या–यह ब्रह्म अलौकिक प्रकाश वाला है इसीलिए उसे उपनिषद् में एक जगह "ज्योतिरिवाधूमकः" कहा गया है अर्थात् वह विकार रहित ज्योतिर्मय है।

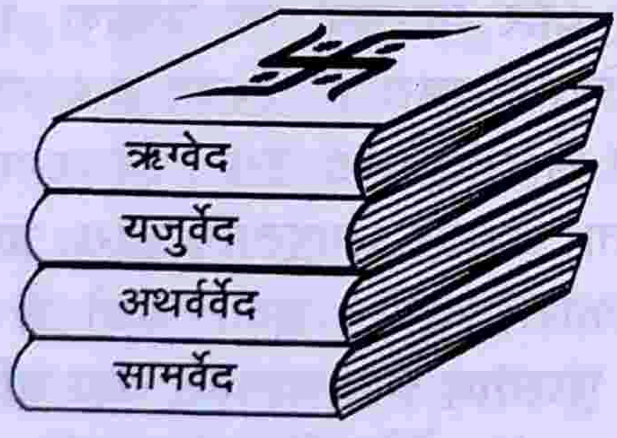
उपनिषद् के इस वाक्य में इसीलिए कहा गया है कि सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत् और अग्नियों के प्रकाश, जिनमें किसी न किसी प्रकार के विकार रहते हैं, ईश्वर तक नहीं पहुंच सकते अर्थात् इन प्रकाशों से यदि कोई उस [ईश्वर को] देखना चाहे तो नहीं देख सकता। उसके जगदुत्पत्ति द्वारा, प्रकाशित हो जाने पर ही ये सब प्रकाश, उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ १० ॥ ४२ ॥

ब्रह्मैवेदममृतं, पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वंच प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ ॥ ४३ ॥

अर्थ–(इदम्) यह (अमृतम्) मृत्यु रहित (ब्रह्म) ब्रह्म (एव) ही है, (पुरस्ताद्) आगे (ब्रह्म) ब्रह्म (पश्चात्) पीछे (ब्रह्म) ब्रह्म (दक्षिणतः) दाहिने (च) और (उत्तरेण) बायें (अधः) नीचे (च) और (ऊर्ध्वम्) ऊपर भी (प्रसृतम्) वह फैला हुआ है (इदम्) यह (विश्वम्) विश्व (इदम्) यह (वरिष्ठम्) अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥ ४३ ॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य में, प्रकरण को समाप्त करते हुए शिक्षा दी गई है कि जिस समय उपासक प्रभु के प्रेम और भक्ति में मस्त होकर अपनी सुध-बुध भुला देता है तब उसे प्रत्येक दिशा में वही दिखाई देता है और "जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।" की लोकोक्ति के अनुसार विश्व और विश्व की प्रत्येक वस्तु उसे ब्रह्मरूप ही में दिखाई देने लगती है। यह उपासना का अन्तिम और उत्कृष्ट रूप है, प्रेम की चरम सीमा और भक्ति की पराकाष्ठा है—इसी अवस्था को प्राप्त होने से जिज्ञासु कृतकृत्य हो जाया करता है ।। ११ ।। ४३ ।।

इति द्वितीये मुण्डके द्वितीयः खण्डः



तृतीयः मुण्डकः

प्रथमः खण्डः

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योअभिचाकशीति ॥ १ ॥ ४४ ॥

अर्थ–(सयुजा) साथ रहने वाले (सखाया) मित्र के समान (द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (समानम्) एक ही (वृक्षम्) वृक्ष को (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक (जीवात्मा) (पिप्पलम् स्वादु) स्वादिष्ट फलों को (अत्ति) खाता है (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) देखता है ।। १ ।। ४४ ।।

व्याख्या–यह ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ का २०वां मन्त्र है जिसे उपनिषद् ने यहाँ उद्धृत किया है। मन्त्र का आलंकारिक भाषा में ईश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन है। प्रकृति से उत्पन्न हुआ यह ब्रह्माण्ड एक पेड़ के सदृश है। इस पेड़ पर दो पक्षी हैं जिनमें से एक वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खाता है और दूसरा न खाता हुआ साक्षी मात्र है। ब्रह्माण्ड में ईश्वर अपने व्यापकत्व से ओत-प्रोत है और जीव मनुष्यादि योनियों में आकर सांसारिक वस्तुओं का उपभोग किया करता है। इसलिए जीव वह पक्षी है जो फलों को खाता है और साक्षी मात्र रहने वाला पक्षी ईश्वर है। मन्त्र में प्रयुक्त 'सयुजा' और 'सखाया' शब्द ईश्वर और जीव दोनों के विशेषण हैं जिसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर और जीव के नित्यत्व में कोई भेद नहीं है और प्रकृति के लिए भी जब पेड़ से उपमा देकर उसी को दोनों पक्षियों का आश्रय स्थान बतलाया गया है तो उसका भी नित्यत्व ईश्वर जीव के समान ही हुआ। अस्तु यहाँ इस खण्ड को एक वेद-मन्त्र से आरम्भ करते हुए और इसमें वर्णित अलंकार द्वारा यह बतलाने की चेष्टा 'उपनिषद्कार' ने की है कि जीव सांसारिक भोगों को भोगकर ही सुख दुःख प्राप्त किया करता है ।। १ ।। ४४ ।।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥ ४५

अर्थ–(समाने) उसी (वृक्ष) वृक्ष पर (पुरुषः) जीवात्मा (निमग्नः) डूबा हुआ (अनीशया) असमर्थता से (मुह्यमानः) मोह में फंसा हुआ (शोचति) दुखी होता है (यदा) जब (जुष्टम्) (योगियों द्वारा) सेवित (अन्यम्) अपने से भिन्न (ईशम्) ईश्वर को (इति) और (अस्य) उसकी (महिमानम्) महिमा को (पश्यति) देखता है तब (वीतशोकः) शोक रहित होता है ॥ २/४५ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में, पहले मन्त्र में वर्णित अलंकार के आधार से, वर्णन किया गया है कि जब जीव ब्रह्माण्ड रूपी वृक्ष के फलों को खाकर फलप्राप्ति के बन्धन में अपने को डाल लिया करता है, तब असमर्थता और परतन्त्रता से मोहग्रस्त होकर दुःख उठाया करता है उसका यह दुःख, जब वह भोगों से पृथक् रहकर, साक्षी मात्र रहने वाले ईश्वर की ओर चलकर उसकी महिमा का निरीक्षण करता है और उस महिमा के निरीक्षण से उसके [ईश्वर] प्रति अपने हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करता है, तब दूर हुआ करता है ॥ २ ॥ ४५ ॥

यदा पश्यः पश्येत रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं ब्रह्मयोनिम् ।
यदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपेति ॥ ३ ॥ ४६ ॥

अर्थ–(यदा) जब (पश्यः) द्रष्टा (रुक्मवर्णम्) प्रकाशमान (कर्त्तारम्) (जगत् के) कर्त्ता (ईशम्) स्वामी और (ब्रह्मयोनिम्) वेदोत्पादक (पुरुषम्) ईश्वर को (पश्येत) देखता है (तदा) तब (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (पुण्यपापे) पुण्य और पाप को (विधूय) छोड़कर (निरञ्जनः) निर्लेप होकर (परमम्) अत्यन्त (साम्यम्) समता को (उपेति) प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ ४६ ॥

व्याख्या–पिछले प्रकरण का विस्तार करते हुए उसी के सिलसिले में, उपनिषद् के इस वाक्य में वर्णित है कि जब द्रष्टा = जीव, जगत् के कर्त्ता, प्रकाशमान, ज्ञानदाता, ईश्वर को देखता है, तब सांसारिक पुण्य और पाप अथवा सुख-दुःख से पृथक् और निर्लेप होकर समता को प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥ ४६ ॥

प्राणो ह्येषः यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥ ४७ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एषः) वह [ईश्वर] (प्राणः) [सबका प्राणदाता होने से] प्राण है (यः) जो (सर्वभूतैः) समस्त भूतों के साथ (विभाति) प्रकाशमान होता है (विजानन्) इसको जानता हुआ (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (अतिवादी) सीमा से बढ़कर बात करने वाला (न, भवते) नहीं होता (एषः) यह [जिज्ञासु] (आत्मक्रीड़ः) आत्मा में क्रीड़ा करने वाला (आत्मरतिः) आत्मा में रत होने वाला (क्रियावान्) क्रिया सम्पन्न (ब्रह्मविदाम्) ब्रह्म के जानने वालों में (वरिष्ठः) श्रेष्ठ होता है ॥ ४ ॥ ४७ ॥

व्याख्या–आस्तिकता की महत्ता और आवश्यकता प्रकट करने के लिए, ईश्वर को उपनिषद् के इस वाक्य में, समस्त प्राणियों के साथ प्राण सदृश प्रकाशमान होने की बात कही गई है। जिस प्रकार प्राण के होने से ही प्राणी–प्राणी कहा जाता है अन्यथा प्राण रहित होने से वह, प्राणी नहीं अपितु शव = लाश ही होता है, इसी प्रकार ईश्वर रूपी प्राण को, शरीर में प्राण के सदृश, आवश्यक न समझने से उसकी आत्मिक मृत्यु हुई समझनी चाहिये।

इस प्रकार ईश्वर का ज्ञान रखने से मनुष्य सीमा के अन्तर्गत रहा करता है और सीमा से बढ़कर बात नहीं किया करता। वह सदैव आत्मवान् होते हुए आत्मा [ईश्वर] में क्रीड़ा करता है और क्रिया सम्पन्न होता है। ऐसा पुरुष ब्रह्मज्ञों में श्रेष्ठ स्थान रखा करता है ॥ ४ ॥ ४७ ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥ ४८ ॥

अर्थ–(अन्तःशरीरे) शरीर के अन्दर (ज्योतिर्मयः) प्रकाशवान् (शुभ्रः) पवित्र (नित्यम्) अनादि (हि) निश्चय (एषः) इस (आत्मा) परमात्मा को [जो] (सत्येन) सत्य (तपसा) तप

(सम्यग्) यथार्थ (ज्ञानेन) ज्ञान (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य से (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है, [उसे] (क्षीणदोषाः) दोष क्षीण हुए (यतयः) यति गण (पश्यन्ति) देखते हैं ।। ५ ।। ४८ ।।

व्याख्या–ईश्वर को प्राप्त करने अथवा उसकी समीपता उपलब्ध करने के लिए मनुष्य के अन्दर सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है इनके द्वारा वे क्षीण-दोष होते हैं और तभी इस योग्य भी होते हैं कि शरीर में व्याप्त ज्योतिर्मय और पवित्र ईश्वर के दर्शन कर सकें। सत्यादि की आवश्यकता होने का कारण यह है कि–

(१) सत्य से मनुष्य का मन क्षीण दोष होकर शुद्ध होता है।

(२) तप से द्वन्द्व रहित होकर बलवान् आत्मा वाला बनता है।

(३) सम्यक् ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

(४) ब्रह्मचर्य से जीवन संयमित होता है।

ये चारों गुण न केवल ईश्वर प्राप्ति में सफलता के कारण होते हैं किन्तु लोकोन्नति के लिए भी, उनकी वैसी ही आवश्यकता होती है ।। ५ ।। ४८ ।।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥ ४९ ॥

अर्थ–(सत्यम्) सत्य (एव) ही की (जयते) जय होती है (अनृतम्) झूठ की (न) नहीं (सत्येन) सत्य ही से (देवयानः) मोक्ष प्राप्ति का (पन्थाः) मार्ग (विततः) फैला हुआ है (येन) जिस (मार्ग) से (आप्तकामाः) कामना रहित (ऋषयः) ऋषि (हि) निश्चय (आक्रमन्ति) जाते हैं (यत्र) जहाँ (तत्) वह (सत्यस्य) सत्य का (परमं, निधानम्) श्रेष्ठ पुञ्ज (ब्रह्म) है ।। ६ ।। ४९ ।।

व्याख्या–इससे पहले वाक्य में जिस सत्य को ईश्वर की प्राप्ति का कारण बतलाया गया है उसी सत्य की महिमा इस वाक्य में प्रकट की गई है। उपनिषद् का कथन है कि सत्य ही की विजय होती है, झूठ से मनुष्य कभी फल-फूल नहीं

सकता। देवयान–ईश्वर की ओर चलने का मार्ग भी सत्य ही से प्राप्त हुआ करता है जिस पर चलकर मनुष्य सत्य के परम कोश, ईश्वर तक पहुँचता है परन्तु पहुँचते वे ही हैं जो साधन सम्पन्न होकर कामना रहित हो चुके हैं।

सत्य की, वेद की तरह, उपनिषदों में भी, बड़ी महिमा वर्णन की गई है। एक जगह लिखा है–वह यह बलों का बल है जो धर्म है इसलिए धर्म से बढ़कर कुछ नहीं है। जिस प्रकार राजा के सहारे, उसी प्रकार धर्म के सहारे निर्बल बलवानों के जीतने की इच्छा किया करता है। निश्चय जो धर्म है वही सत्य है। इसलिए सत्य के कहने वाले को, कहते हैं कि धर्म को कहता है और धर्म की बात कहने वाले को कहते हैं कि सत्य की बात कहता है।*

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥ ५० ॥

अर्थ–(तद्) वह [ब्रह्म] (बृहत्) महान् (च) और (दिव्यम्) दिव्य = अलौकिक है (अचिन्त्यरूपं) जिसकी सत्ता अचिन्तनीय है (तद्) वह (सूक्ष्मात्) सूक्ष्म से (सूक्ष्मतरम्) अत्यन्त सूक्ष्म (विभाति) प्रकाशित है (च) और (तद्) वह (दूरात्) दूर से भी (सुदूरे) अति दूरे (च) और (इह) यह (अन्तिके) समीप भी (पश्यत्सु) देखने वालों के लिए (इह) इस (गुहायाम् एव) हृदयाकाश ही में (निहितम्) स्थित है ॥ ७ ॥ ५० ॥

व्याख्या–उसी ब्रह्म के, जिसकी प्राप्ति की चर्चा, इससे पहले उपनिषद् वाक्यों में, की गई है, कुछेक गुणों का, इस वाक्य में उल्लेख है–

(१) वह महान् और अलौकिक है।

* तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। तस्मात् धर्मात् परं नास्ति, अथो अबलीयान् बलीयान् तमाशंसते धर्मेण यथा राजैयं, यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदति ॥ इति ॥ (बृह० उपनिषद् १/४/१४)

(२) वह अचिन्तनीय है–चिन्तन, चित्त अथवा मन का काम है अतः अचिन्तनीय का अभिप्राय यह हुआ कि वह मनादि अन्तःकरणों द्वारा चिन्तन नहीं किया जा सकता। मन, बुद्धि आदि अन्तःकरणों के काम, तर्क तक समाप्त हो जाते हैं परन्तु ईश्वर तर्क का विषय नहीं अपितु निदिध्यासन (आत्मानुभव-Intuitional perception) का विषय है। इसलिए वह इन्द्रियों द्वारा नहीं किन्तु आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाया करता है।

(३) वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है।

(४) वह दूर से दूर और समीप से समीप भी है। यह ईश्वर का रचा हुआ ब्रह्माण्ड, असंख्य सूक्ष्म मण्डलों से मिलकर बना हुआ है। कोई ज्योतिषी सूर्यों की भी गणना नहीं कर सकता। फ्रांस के एक ज्योतिर्विद ने दो सूर्यों के बीच की दूरी का कम से कम अनुमान २६०० संख्य मील का किया है और सूर्य असंख्य हैं इसलिए ब्रह्माण्ड के विस्तार का कोई अनुमान भी नहीं कर सकता, परन्तु पुरुष सूक्त में समस्त ब्रह्माण्ड को ईश्वर के एक ही पाद में वर्णन किया है और बतलाया है कि उसके ३ पाद ब्रह्माण्ड से बाहर उसी के दिव्य लोक में हैं। इसलिए उपनिषद् के इस वाक्य में उसे दूर से दूर कहा गया है इसके साथ ही उसे समीप भी कहा गया है। उसकी समीपता का अनुमान इसी से किया जाता है कि वह मनुष्यों के हृदयों में मौजूद है और वहीं वह देखा भी जा सकता है। उसके साक्षात् करने के अभ्यासी उसे देखने के लिए अपने हृदय मन्दिरों ही में प्रवेश करने का यत्न किया करते हैं ॥ ७ ॥ ५० ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥ ५१ ॥

अर्थ–[वह ब्रह्म] (चक्षुषा) आँख से (न गृह्यते) नहीं ग्रहण किया जाता (न, अपि वाचा) वाणी से भी नहीं (न) न (अन्यैः) अन्य (देवैः) इन्द्रियों से (न तपसा) न तप से (वा) और (न कर्मणा) न [सकाम] कर्म से [बल्कि] (ज्ञानप्रसादेन)

ज्ञान की महिमा से (विशुद्धसत्त्वः) शुद्ध अन्तःकरण वाला होकर (ततः) उससे (ध्यायमानः) ध्यान करता हुआ (तम्) उस (निष्कलम्) कला रहित [ब्रह्म] को (पश्यते) देखता है ॥ ८ ॥ ५१ ॥

व्याख्या–जैसा कि इससे पहले उपनिषद् वाक्यों में कहा गया है कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसी तरह उपनिषद् के इस वाक्य में भी कहा गया है कि उसे न आँख से देख सकते हैं न वाणी से ग्रहण कर सकते हैं और न उसे अन्य इन्द्रियों का विषय बना सकते हैं और न केवल तप वा कर्म के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। उसे जो देखना और प्राप्त करना चाहते हैं वे पहले अपने को इस योग्य बनाते हैं कि आत्मा द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करें। इसी ज्ञान प्राप्ति की विधि को प्रतिबोध या निदिध्यासन कहते हैं। इसी प्राप्त ज्ञान की महिमा से वे विशुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं और उस कला रहित ब्रह्म को प्राप्त किया करते हैं ॥ ८ ॥ ५१ ॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ ॥ ५२ ॥

अर्थ–(एषः) वह (अणुः) सूक्ष्म (आत्मा) ब्रह्म (चेतसा) ज्ञान से (वेदितव्यः) जानने योग्य है (यस्मिन्) जिस [शरीर] में (प्राणः) प्राण (पञ्चधा) पांच भेदों से (संविवेश) प्रविष्ट हो रहा है और (प्राणैः) प्राणों के साथ (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वम्) सब (चित्तम्) चित्त = अन्तःकरण (ओतम्) व्याप्त है और (यस्मिन्) जिसमें (विशुद्धे) विशेष रूप से शुद्ध होने पर (एषः) यह (आत्मा) ब्रह्म (विभवति) प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥ ५२ ॥

व्याख्या–जो विषय इससे पहले उपनिषद् वाक्यों में वर्णित है उसी की पुष्टि इस वाक्य द्वारा की गई है। वह सूक्ष्म ब्रह्म, आत्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान से, प्राप्तव्य होता है। उस महान् ब्रह्म में प्राण अपने पाँच भेदों से प्रविष्ट है। इन्हीं प्राणों के

साथ प्राणियों के अन्तःकरण भी उसी में व्याप्त हैं। उन्हीं अन्तःकरणों के विशेष रीति से शुद्ध हो जाने पर, मुमुक्षु उस ब्रह्म को प्राप्त किया करता है ।। ९ ।। ५२ ।।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः, कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्च्चयेत् भूतिकामः ।। १० ।। ५३ ।।

अर्थ–(विशुद्धसत्त्वः) निर्मल अन्तःकरण वाला [मनुष्य] (यम्, यम् लोकम्) जिस-जिस लोक को (मनसा) मन से (संविभाति) चिन्तन करता है (च) और (यान्) जिन (कामान्) कामनाओं को (कामयते) चाहता है (तम्, तम्, लोकम्) उस उस लोक को (च) और (तान्) उन (कामान्) कामनाओं को (जायते) प्राप्त होता है (तस्मात्) इसलिए (हि) निश्चय (भूतिकामः) विभूति का इच्छुक, (आत्मज्ञम्) ब्रह्मवित् की (अर्च्ययेत्) पूजा करे ।। १० ।। ५३ ।।

व्याख्या–खण्ड का उपसंहार करते हुए उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि निर्मल अन्तःकरण वाला पुरुष अपने शुद्ध अन्तकरण के प्रभाव से अन्तःसमय अथवा किसी समय में भी जिस जिस लोक या भोग का मन द्वारा संकल्प करता है वह उस लोक या भोग को प्राप्त किया करता है। इसलिए इस प्रकार का सामर्थ्य या सिद्धि चाहने वाले को चाहिये कि आत्मावेत्ता गुरु को प्राप्त हो और उसका सत्कार करे तब उसकी शिक्षानुकूल आचरण करने से अपने को सिद्धि प्राप्त शिष्य बना सकता है। निर्मल अन्तःकरण वाला पुरुष अमोघ संकल्प हो जाया करता है, वह जो भी संकल्प करता है वह पूरा हो जाया करता है। उसका कोई भी संकल्प व्यर्थ नहीं जाया करता ।। १० ।। ५३ ।।

इति तृतीये मुण्डके प्रथमः खण्डः

तृतीयः मुण्डकः

द्वितीयः खण्डः

**स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥ १ ॥ ५४ ॥**

अर्थ–(सः) वह [आत्मज्ञ] (एतत) इस (परमं, धाम) परम आश्रम (ब्रह्म) ब्रह्म को (वेद) जानता है (यत्र) जिसमें (विश्वम्) विश्व (निहितम्) स्थित है और [जो ब्रह्म] (शुभ्रम्) शुद्ध और (भाति) प्रकाशित है (हि) निश्चय (ये) जो (अकामाः) इच्छा रहित होकर (पुरुषम्) पुरुष = ईश्वर की (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (धीराः) धीर पुरुष (एतत्) इस (शुक्रम्) शुक्र = वीर्य को (अतिवर्त्तन्ति) उल्लंघन कर जाते हैं ॥ १ ॥ ५४ ॥

व्याख्या–जो मनुष्य कामना रहित होकर सफलता पूर्वक ईश्वरोपासना करता है उसमें दो प्रकार की योग्यता आ जाती है–

(१) वह परम पवित्र ब्रह्म को, जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड स्थित है और जो समस्त ब्रह्माण्ड में प्रकाशित हो रहा है, जानने लगता है।

नोट–ब्रह्म के जानने का अभिप्राय ब्रह्म का केवल साधारण ज्ञान नहीं है कि ब्रह्म है और ऐसा है और वैसा है इत्यादि किन्तु जानने का अभिप्राय यह है कि उसे प्रतिबोध होने लगता है अर्थात् वह अपने आत्मा द्वारा उसके साक्षात् करने की योग्यता वाला हो गया।

(२) वह ऊर्ध्वरेता हो जाता है वीर्य सम्बन्धी किसी प्रकार का भी विकार उसको विकृत नहीं कर सकता ॥ १ ॥ ५४ ॥

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। पर्य्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥ ५५ ॥

अर्थ–(यः) जो (कामान्) इच्छाओं को (मन्यमानः) मन में रखता हुआ (कामयते) [उनकी पूर्ति] चाहता है (सः) वह

(मनुष्य) (कामभिः) उन कामनाओं = वासनाओं के साथ (तत्र, तत्र) वहाँ वहाँ [वासनाओं के अनुसार] (जायते) उत्पन्न होता है परन्तु (पर्याप्तकामस्य) पूर्ण हुई इच्छा वाले = इच्छा रहित की, [जिसने] (कृतात्मनः) आत्मा को साक्षात् कर लिया है, (सर्वे, कामाः) समस्त कामनाएँ (इह, एव) यहाँ ही इस शरीर ही में (प्रविलीयन्ति) विलीन हो जाती हैं ॥ २ ॥५५॥

व्याख्या–जो मनुष्य कामना रहित होकर ईश्वर की उपासना करते हैं, जैसा इससे पहले कहा जा चुका है, वे आप्त काम = पूर्ण हुई इच्छा वाले या इच्छा रहित हो जाते हैं उनकी समस्त कामनाएँ इस शरीर ही में विलीन हो जाती हैं परन्तु जो ऐसे नहीं हैं और जो कामना रहित नहीं हो सके हैं और फल को लक्ष्य में रखकर ही [सकाम] कर्म करते हैं वे उन वासनाओं के साथ जो उनके कर्मों में उत्पन्न होती हैं और जिन्हें सञ्चित कर्मों का रूपान्तर ही कहना चाहिये, उन्हीं वासनाओं के अनुकूल ही जन्म लिया करते हैं। उपनिषद् की यही शिक्षा है इसे यों भी कह सकते हैं कि मनुष्य की अन्त समय में समस्त जीवन के चित्रवत् जैसी अन्तिम अवस्था होती है उसी के अनुसार जन्म हुआ करता है ॥ २/५५ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ ३ ॥ ५६ ॥

अर्थ–(अयम्) यह (आत्मा) परमेश्वर (प्रवचनेन) शास्त्रों के पढ़ने से (न लभ्यः) नहीं प्राप्त होता (न, मेधया) न बुद्धि से (न, बहुना, श्रुतेन) न बहुत सुनने से [प्राप्त होता है] (यम्, एव) जिस ही को (एषः) यह (परमात्मा) (वृणुते) स्वीकार कर लेता है = छांट लेता है (तेन) उससे (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है (एषः, आत्मा) यह आत्मा = परमेश्वर (स्वाम्) अपने (तनूं) स्वरूप को [उस पर] (विवृणुते) प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥५६॥

व्याख्या–उपनिषद् की शिक्षा जो इस वाक्य द्वारा दी गई है बड़ी महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा यह है कि वह ईश्वर, प्रवचन, बुद्धि अथवा बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं होता, उसे वह मनुष्य

ही प्राप्त कर सकता है जिसे स्वयं वह [ईश्वर] छाँट लिया करता है और उसी पर वह अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है। प्रश्न यह है कि वह अन्धाधुन्ध किसी को छाँट लेता है अथवा छाँट लेने की कोई मर्यादा है। इस प्रश्न का उत्तर ऋग्वेद की एक ऋचा से मिल जाता है। ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है–"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः❖।" अर्थात् जब तक मनुष्य यत्न करके अपने को थका नहीं लेता तब तक वह ईश्वर की दया का पात्र नहीं बन सकता।

एक उदाहरण– इस शिक्षा को स्पष्ट करने के लिए वेदान्त के ग्रन्थों में एक बड़ा सुन्दर उदाहरण एक माता और उसके घुटनों के बल चलने वाले एक छोटे बालक का है। माता एक ओर खड़ी है और उसका छोटा सा बालक दूसरी ओर खेल रहा था। बच्चे को भूख लगी, स्वभावतः उसे माता याद आई, वह माता की ओर घुटनों के बल चला और माता के चरण तक पहुँचकर खड़ी हुई माता की ओर आशा भरी दृष्टि से सहायता के लिए देखने लगा–माता ने देखा कि उसका प्यारा बालक भूख से व्याकुल होकर घुटनों के बल चलते हुए उसके चरणों तक पहुँच गया, परन्तु अब यह उसकी सामर्थ्य से बाहर है कि वह अपने को इतना ऊँचा कर ले जिससे स्तनों तक मुँह पहुँचाकर अपनी भूख को शान्त कर लेवे। माता के हृदय में बालक पर दया करने के भाव जागृत हो उठते हैं और वह प्रेम से बालक को गोद में उठाकर दूध पिलाकर उसे कृतकृत्य कर देती है। ठीक इसी तरह जब मुमुक्षु अपने को, अपने अन्तःकरण आदि को उपनिषद् की शिक्षानुकूल शुद्ध करने के द्वारा ईश्वर के दर्शन का अधिकारी बना लेता है तब उस मुमुक्षुरूप बालक पर उस जगत् जननी जगदम्बा को भी दया आती है और वह उस मुमुक्षुरूप बालक को गोद में उठाकर आनन्दरूपी दुग्ध का पान कराके कृतकृत्य कर देती है। इसलिए मनुष्यों को आलस्य का त्याग करके अपने को

❖ देखो–ऋग्वेद ४/३३/११

(२) विज्ञान = प्रतिबोध = निदिध्यासन अर्थात् उस ज्ञान को प्राप्त हो जाना जो आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत हो जाने से आत्मा को प्राप्त हुआ करता है।

(३) संन्यासयोग = पूर्ण वैराग्य की प्राप्ति।

(४) यत्नशीलता।

(५) अन्तःकरण की निर्मलता।

तब वह जिज्ञासु मरकर समस्त बन्धनों से मुक्त और अमरता का जीवन प्राप्त करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥ ६० ॥

अर्थ–(पञ्चदश) पन्द्रह (कलाः) कलायें (प्रतिष्ठाः) अपने कारण में (गताः) चली जाती = लीन हो जाती हैं (च) और (सर्वे, देवाः) समस्त देव = इन्द्रियां (प्रतिदेवतासु) अपने कारण में [लीन हो जाती हैं] (कर्माणि) निष्काम कर्म (च) और (विज्ञानमयः) विशेष ज्ञानमय (आत्मा) जीव (परे) अत्यन्त (अव्यये) एक रस रहने वाले ब्रह्म में (सर्वे) सब (एकीभवन्ति) एक हो [मिल] जाते हैं ।। ७ ।। ६० ।।

व्याख्या–इस वाक्य में यह शिक्षा दी गई है कि मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी जब शरीर छोड़ता है तब क्या उससे छूट जाता है और क्या उसके साथ जाया करता है–

छूटने वाली वस्तुएँ–[१] १५ कलायें अपने कारण में लीन हो जाती हैं। प्रसिद्ध सोलह कलायें ये हैं–

१. प्राण	२. श्रद्धा	३. आकाश
४. वायु	५. अग्नि	६. जल
७. पृथिवी	८. इन्द्रिय	९. मन
१०. अन्न	११. वीर्य	१२. तप
१३. मन्त्र	१४. कर्म	१५. लोक
१६. नाम (देखो प्रश्नोपनिषद् ६/४)		

इनमें जब मन और इन्द्रियों को एक कोटि में रख लेते हैं तब यही १६ कलायें १५ कलायें कहलाया करती हैं।

(२) समस्त इन्द्रियाँ और उनकी शक्ति अपने कारण सूक्ष्म-भूत में चली जाती हैं।

नोट-(१) १५ कलाओं और समस्त इन्द्रियों के अपने-अपने कारण में लीन हो जाने से आत्मा का किसी भी प्रकार के शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, सभी छूट जाते हैं।

(२) १५ कलाओं में जब इन्द्रियों की गणना आ गई तब फिर उन्हें अलहदा क्यों लिखा ? इस शंका .का समाधान यह है कि इन्द्रियों के गोलक पृथक् होते हैं और असली इन्द्रिय-शक्ति उनसे सर्वथा पृथक् मस्तिष्क में हुआ करती है। १५ कलाओं में केवल गोलक रूप में इन्द्रियों को पृथक् लिखा जाता है।

साथ जाने वाली वस्तुयें (१) कर्म-कर्म दो प्रकार के होते हैं सकाम और निष्काम। इनमें से वासनोत्पादक सकाम कर्म शरीर रखते हुए ही नष्ट हो जाते हैं। इनके नष्ट हो जाने से वासनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं परन्तु निष्काम कर्म वह जीवन मुक्त अन्त समय तक रहता है। इसलिए वे सभी निष्काम कर्म उसके साथ जाते हैं।

(२) **विज्ञान**- कर्म के सिवा दूसरी चीज जो मुक्तात्मा के साथ जाती है वह आत्मा द्वारा प्राप्त विशेष ज्ञान है जिसको विज्ञान, प्रतिबोध, निदिध्यासन (Intuitionai perception) आदि शब्दों से पुकारा जाता है इस प्रकार त्यक्तव्य पदार्थों को छोड़ निष्काम कर्म और विज्ञान के साथ मुक्तात्मा अपने से सूक्ष्म और अविनाशी एक रस रहने वाले ब्रह्म के साथ मिल जाता है ॥ ७ ॥ ६० ॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपेति दिव्यम् ॥ ८ ॥ ६१ ॥

अर्थ-(यथा) जैसे (नद्यः) नदियाँ (स्यन्दमानाः) बहती हुई (समुद्रे) समुद्र में (नामरूपे) नाम और रूप [बाह्य दृश्य]

(Appearance) को (विहाय) छोड़कर (अस्तम्) अस्त (गच्छन्ति) हो जाती हैं (तथा) इसी प्रकार (विद्वान्) विद्वान् (नामरूपात्) नाम और रूप से (विमुक्तः) छूटकर (परात्परम्) सूक्ष्म से सूक्ष्म (दिव्यम्) अलौकिक (पुरुषम्) पुरुष = ईश्वर को (उपेति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ ६१ ॥

व्याख्या—जगत् की प्रत्येक वस्तु में दो चीजें हुआ करती हैं—एक उस वस्तु का बाह्य दृश्य, उसका आकार-प्रकार, रूप-रंग। दूसरी उसकी आन्तरिक सत्ता जिसे वस्तु तत्त्व भी कहते हैं—जरमन के सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक क्राण्ट ने प्रथम को बाह्यदृश्य (Appearance) और दूसरी को वस्तुतत्त्व (Thing in itself) कहा है—वाह्य आकार आदि ही को इस वाक्य में नाम रूप कहा गया है। वाक्य का भाव यह है कि जिस प्रकार बहती हुईं नदियाँ समुद्र में मिलकर उसमें समा जाती हैं और फिर उन्हें गंगा, यमुना आदि नामों से कोई नहीं पुकारता। इसी प्रकार मुक्त जीव अपने नामरूप को छोड़कर सूक्ष्म से सूक्ष्म दिव्य ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

नोट—यद्यपि नदियों का नाम रूप समुद्र में मिल जाने से बाकी नहीं रहता परन्तु उनका वस्तु तत्व [जल] नष्ट नहीं हो जाता। वह समुद्र से मिलकर समुद्र के जल की मात्रा को बढ़ा देता है। इसी प्रकार मुक्त जीव का भी वस्तुतत्व [आत्मा] नष्ट नहीं होता वह ईश्वर को प्राप्त करके भी अपनी सत्ता कायम रखता है केवल नाम रूप, जो शरीर और आत्मा के संघात से सम्बन्धित होता है, उस संघात के बाकी न रहने से, बाकी नहीं रहता ॥ ८ ॥ ६१ ॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽव्रतो भवति ॥ ९ ॥ ६२ ॥

अर्थ—(ह, वै) निश्चय (सः) वह (यः) जो (तत्) जैसे (परमं, ब्रह्म) परब्रह्म को (वेद) जानता है (ब्रह्म, एव) ब्रह्म ही (भवति) होता है। (अस्य) इसके (कुले) कुल में (अब्रह्मवित्) ब्रह्म का न जानने वाला [कोई] (न, भवति)

नहीं होता (शोकम्) शोक को (तरति) तरता है। (पाप्मानम्) पाप को (तरति) पार करता है (गुहाग्रन्थिभ्यः) वासनाओं की गांठों से (विमुक्तः) छूटकर (अमृतः) अमर (भवति) हो जाता है॥ ९ ॥ ६२ ॥

व्याख्या—इस वाक्य में ब्रह्म की प्राप्ति के ३ फल बतलाये हैं—(१) ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है। (२) उसके कुल में कोई ब्रह्म का न जानने वाला नहीं होता। (३) मुक्त जीव शोक और पाप से छूट जाता है, उसके हृदय की गांठ (वासना) खुल जाती है और वह अमर हो जाता है।

इन फलों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) प्रेम और भक्ति की सर्वोत्कृष्ट अवस्था यह होती है कि प्रेमी अपने प्रेष्ठ के प्रेम में इतना मग्न हो जावे कि उसे अपनी सुध-बुध न रहे, प्रेष्ठ ही प्रेष्ठ उसको इधर-उधर हर जगह दिखाई दे। जैसे कहा गया है कि—"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।" योग के सातवें अंग तक पहुँचने पर योगी अपने को ध्याता और अपने से भिन्न ध्येय का ध्यान करने वाला समझा करता है परन्तु योग के आठवें और अन्तिम अंग में पहुंचने पर योगी अपने को भूलकर केवल प्रभु के प्रेम में इतना मग्न हो जाता है कि उसे प्रत्येक जगह वह दिखाई देने लगता है। वह अपने को भी वही समझता है और अन्य सब को भी वही। इसी अवस्था को प्राप्त हो जाने पर ब्रह्मोपासक अपने को भी ब्रह्म समझता है तथा अन्यों को भी। इसी अवस्था का सुन्दर चित्र ऋग्वेद की एक ऋचा में खिंचा हुआ मिलता है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा धा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ ऋ० ८/५४/२३॥

अर्थात् "हे प्रकाश वाले प्रभो! यदि मैं तू हो जाऊं और तू मैं हो जाए तो तेरा आशीर्वाद संसार में सत्य हो जाए।" प्रभु का मनुष्यों के लिए जो आशीर्वाद है उसका संकेत यजुर्वेद के इस वाक्य में मिलता है—"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।"

अर्थात् "सुनो ऐ समस्त अमृत पुत्रो" इस वाक्य में मनुष्यों को अमृत पुत्र कहा गया है। यह आशीर्वाद कब चरितार्थ हो जब मनुष्य के भीतर इतनी उत्कृष्ट भक्ति आ जावे कि वह समझने लगे कि "मैं तू और तू मैं हो गया।" एक कवि ने इसी भाव को बड़ी सुन्दरता से अपनी एक कविता में प्रदर्शित किया है-

जब मैं था तब हर नहीं, जब हर तब मैं नांय।
प्रेम गली अति सांकरी जा में दो न समाय ।।

परन्तु भक्ति की इस उत्कृष्ट मर्यादा को न समझकर यदि कोई हट करे कि नहीं ब्रह्मवित् तो ब्रह्म ही हो जाता है तो उसको समझना चाहिए कि "ब्रह्मविदो ब्रह्मैव भवति।" इस वाक्य में प्रयुक्त, "भवति" = हो जाता है क्रिया प्रकट करती है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था अब हुआ है इसलिए यह सादि ब्रह्म होगा। परन्तु असली ब्रह्म अनादि ब्रह्म है। यह अन्तर सदैव रहेगा और इस अन्तर की वजह से जीव-जीव और ब्रह्म ब्रह्म ही रहेगा, दोनों एक नहीं हो सकते।

(२) ब्रह्मवित् के कुल में अब्रह्मवित् का न होना स्पष्ट है। सन्तान, पारिवारिक परिस्थिति माता और पिता के क्रियात्मक विचारों के अनुरूप बना करती है। जहाँ और जिस परिवार में आस्तिकता और ईश्वर-परायणता का वातावरण हो वहाँ नास्तिक और अब्रह्मवित् पैदा नहीं हो सकते। क्लिष्ट कल्पना के तौर पर यदि मान भी लें कि ऐसे परिवार में भी किसी के अब्रह्मवित् होने की सम्भावना हो सकती है तो यह नियम का अपवाद होगा नियम वही ब्रह्मवित् होने ही का रहेगा।

(३) स्पष्ट है कि मुक्त जीव शोकादि के पार हो ही जाता है [९ ।। ६२]

तदेतदृचाभ्युक्तं क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वते एकर्षिं श्रद्धयन्तस्तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ।। १० ।। ६३ ।।

अर्थ-(तद्) वह (एतद्) यह [जो वर्णित हुआ] (ऋचा वेद-मन्त्र में भी (अभि उक्तम्) कहा गया है (क्रियावन्तः)

निष्काम कर्म सम्पन्न (श्रोत्रियाः) वेदविद्या में कुशल (ब्रह्मनिष्ठाः) ब्रह्म में विश्वास रखने वाले (श्रद्धयन्तः) श्रद्धावान् (स्वयम्) स्वयं (एकर्षिम्) अद्वितीय ब्रह्म को (जुह्वते) ग्रहण करते हैं। (यैः, तु) और जिन्होंने (शिरोव्रतम्) मुख्य व्रत को (विधिवत्) नियमानुकूल (चीर्णम्) धारण किया है (तेषाम् एव) उन्हीं के लिए (एताम्) इस (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्मविद्या को (वदेत) कहें ।। १० ।। ६३ ।।

व्याख्या–इस ब्रह्मविद्या के अपूर्व ग्रन्थ उपनिषद् को समाप्त करते हुए इस उपनिषद् के कर्त्ता ने यह शिक्षा भी दी है कि इस ब्रह्मविद्या का उपदेश किसको देना चाहिये और इस बात को प्रकट करने के लिए उन्होंने ऋचा को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। ऋचा में कहा गया है कि जो पुरुष ऐसे हैं जो निष्काम कर्म करते हैं। और वेदविद्या को जानते हैं। और अद्वितीय ईश्वर में विश्वास और श्रद्धा रखते हैं और जिन्होंने ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए मुख्य व्रत भी धारण कर रखा है। ऐसे लोग हैं जिन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुकूल भूमि में बीज डालने से वह अंकुरित होकर फल और फूल देने लगता है। यदि उसे ऊसर भूमि में डाल दिया जाये तो उगने और फल-फूल देने की तो कथा ही क्या है, उल्टा वह बीज भी नष्ट हो जावेगा। इस प्रकार श्रद्धा रखने वालों को, ब्रह्मविद्या का उपदेश देने से वह उपदेश उनके हृदयों में अपना स्थान बनाता है परन्तु जहाँ श्रद्धा न हो वहाँ वह व्यर्थ हो जाता है ।। १० ।। ६३ ।।

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः ।। ११ ।। ६४ ।।

अर्थ–(तद्, एतद्) उस इस (सत्यम्) नित्य पुरुष को (पुरा) पहले (अंङ्गिराः, ऋषिः) अंगिरा ऋषि ने (उवाच) कहा (एतत्) इस [ब्रह्म] को (अचीर्णव्रतः) व्रत का धारण न करने वाला (न, अधीते) नहीं जानता (परम ऋषिभ्यः) परम ऋषियों के लिए (नमः) नमस्कार हो ।। ११/६४ ।।

व्याख्या—उस इस नित्य पुरुष ईश्वर को अंगिरा ऋषि ने कहा—अर्थात् अंगिरा ऋषि ने ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी और बतलाया कि जो अचीर्णव्रत हैं अर्थात् जिन्होंने व्रतों का अनुष्ठान नहीं किया है वे (ब्रह्मविद्या) को नहीं जान सकते।

जिन ऋषियों ने अपने महान् जीवनों को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में लगाया है ऐसे महान् ऋषियों को नमस्कार करते हुए उपनिषद् समाप्त की गई है। दो बार पाठ समाप्ति सूचक है ।। ११ ।। ६४ ।।

तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः

।। समाप्ताचेयमुपनिषद् ।।

